सरल वेदान्त प्रश्नोत्तरी

(चौथा भाग)

स्वामी निरंजन

मंगलाचरणम्

नारायणं पद्मभवं वशिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्र पराशरंच
व्यासं शुकं गौड़पादं महान्तं गोविन्द योगीन्द्रमथास्य शिष्यम्
श्रीशंकराचार्यम् पद्मपादञ्च हस्तामलकं च शिष्यम्
तं त्रोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद् गुरुन् सन्ततमानतोऽस्मि (२)

भावार्थ : ब्रह्मविद्या के आदि गुरु नारायण को, ब्रह्मा, वशिष्ठ, शक्ति तथा उनके पुत्र पराशर, वेदव्यास, शुकदेव महान् गौड़पादाचार्य योगीराज गोविन्दपादाचार्य उनके शिष्य श्री मच्छंकर भगवत्पाद और उनके शिष्य समुदाय पद्मपाद हस्तामलक त्रोटकाचार्य तथा सुरेश्वराचार्य एवं ब्रह्मविद्या के हमारे अन्य गुरुजनों को मैं सदा प्रणाम करता हूँ ।

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम् ।
नमामि भगवत्पादं शंकरं लोकशंकरम् ।। (२)

भावार्थ : श्रुति स्मृति और पुराणों के निधि, करुणा के सागर लोक का कल्याण करने वाले भगवत्पाद शंकर को मैं प्रणाम करता हूँ ।

शंकरं शंकराचार्यं केशवं बादरायणम् ।
सूत्र भाष्य कृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ।। (३)

भावार्थ : भगवान शंकराचार्य जो कि साक्षात् शंकर है, तथा भगवान वेदव्यास जो कि साक्षात् विष्णु है, इन दोनों को जो कि ब्रह्मसूत्र के (वेदव्यास) तथा उसपर शंकर भाष्य (शंकराचार्य) के रचियता हैं मैं उनको पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ ।

प्रश्न-१ : जगत् को स्वप्नवत् मिथ्या क्यों कहा जाता है ?

उत्तर : स्वप्न में प्रतिभासिक मिथ्या जीव के द्वारा देखी गई, भोगी गई, की गई शुभाशुभ, लाभ-हानि, मानापमान, संयोग-वियोग, जन्म-मृत्यु आदि किसी भी प्रकार की क्रिया का जाग्रत व्यवहारिक जीव के साथ किंचित् भी सम्बन्ध नहीं रहता है ।

ठीक इसी प्रकार जीव द्वारा अज्ञानावस्था में की गई, भोगी गई, प्राप्त की गई, त्याग की गई, किसी भी शुभाशुभ क्रिया के साथ उसका मैं द्रष्टा साक्षी आत्मा हूं इस निष्ठा में जाग्रत हो जाने पर किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता है । न यह जाग्रत अवस्था सत्य है न स्वप्नावस्था सत्य है । यदि जाग्रत सत्य होता तो स्वप्न में भी इसी प्रकार व्यवहार चलता रहता किन्तु ऐसा कभी नहीं होता । यदि स्वप्न सत्य होता तो जाग्रतावस्था में भी उसी प्रकार व्यवहार चलता रहता । लेकिन जाग्रत स्वप्न में असत हो जाता है एवं स्वप्न जाग्रत में असत हो जाता है । परन्तु इन दोनों अवस्थाओं का द्रष्टा जो तुम हो वह असत नहीं होता, वह दोनों अवस्था में समान रूप से विद्यमान रहने से एक मात्र सत्य है और वह तू है '**तत्त्वमसि**' ।

'जगत् सब सपना' इसलिये कहा जाता है कि यह समस्त जगत् माया से बिना प्रयास, बिना बनाये प्रतीत होता रहता है । जैसे निद्रा रूप अज्ञान से स्वप्न दिखाई पड़ता है वह वास्तव में नहीं होता है । स्वप्न के जगत् को जीव न बनाता है न बिगाड़ता है । जीव केवल देखता रहता है । उसी तरह यह जाग्रत जगत् भी वास्तव में न होने पर भी माया से दिखाई पड़ता है । उसे मैं बनाता, बिगाड़ता नहीं हूँ । मैं तो बस उसका द्रष्टा ही हूँ । जगत् मेरी माया से प्रतीत होता है । स्वप्न टूटने से स्वप्न जगत् ध्वंस हो

जाता है । इसी तरह अज्ञान जब ज्ञान अग्नि से दग्ध हो जाता है तब जगत् का नाम निशान नहीं रहता । जैसे मंद अंधकार में पड़ी रस्सी में सर्प भ्रान्ति हो जाती है । जब अधिष्ठान रस्सी ज्ञान हो जाता है तब वह सर्प रस्सी रूप हो जाता है । इसी प्रकार आत्मस्वरुप के अज्ञान से जगत् प्रपंच सत्य-सा प्रतीत होता है और जब अधिष्ठान ब्रह्म ज्ञान से जगत् अध्यास निवृत्त हो जाता है तब जगत् अधिष्ठान ब्रह्म रूप ही भान होने लगता है । फिर न जीव है, न कर्म है, न बन्ध है, न साधन है और न मुक्ति है ।

प्रश्न-२ : परमात्मा को दृश्य पदार्थ की तरह देखा जा सकता है ?

उत्तर : नहीं ! परमात्मा द्रष्टा है एवं दृष्टि के द्रष्टा को दृश्य की तरह कभी नहीं देखा जा सकता ।

'द्रष्टेः द्रष्टारम न पश्येत्'

यही जिज्ञासा अर्जुन ने एक बार भगवान् श्रीकृष्ण से की थी कि हे भगवन् ! क्या मैं इन प्राकृत नेत्र द्वारा आपके अविनाशी स्वरूप को देख सकता हूँ ?

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ।।

- गीता : ११/४

अर्जुन की यह जिज्ञास देख श्रीकृष्ण जी ने कहा अर्जुन ! इन प्राकृत नेत्र द्वारा मेरे निराकार अनुभव स्वरूप, अविनाशी, अव्यक्त द्रष्टा, साक्षी आत्म स्वरूप का दर्शन कभी नहीं हो सकता ।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषाः

- गीता : ११/८

जैसे कैमरे द्वारा समस्त दृश्यों को चित्रांकित किया जाता है किन्तु कैमेरे का चित्र उस के द्वारा अंकित किया नहीं जा सकता है ।

जैसे टार्च में रखी बेट्री द्वारा प्रकाश प्रकट होता है और उस प्रकाश में पदार्थ, स्थान, व्यक्ति, प्राणी, देखे जाते हैं किन्तु उस टार्च के प्रकाश में उन्ही बेट्री को नहीं देखा जा सकेगा । क्योंकि टार्च से बेट्री पृथक् व सम्मुख करते ही तो तत्काल अन्धकार छा जावेगा । तब कौन किसे व कैसे देख सकेगा ?

इसी प्रकार सर्व द्रष्टा परमात्मा को दृश्य की तरह नहीं देखा जा सकता । क्योंकि वह अकेला द्रष्टा है । दो आत्मा नहीं है कि एक देखेगा एवं दूसरा दिखाई पड़ जायगा ।

विज्ञातारं रे केन विजानियात येन इदं सर्वं विजानियात्

- बृह. उप.

प्रश्न-३ : शरीर मरने पर आत्मा रहता है या चला जाता है ?

उत्तर : शरीर के मरने पर अखण्ड, सर्व व्यापक आत्मा तो विद्यमान रहता है परन्तु मृत शरीर द्वारा क्रिया नहीं होती है । इसका कारण यह है, कि शरीर में सामान्य चेतन अस्ति, भाति, प्रिय रूप से तो विद्यमान है किन्तु अन्तःकरण में कूटस्थ के आभास पड़ने से उत्पन्न विशेष चेतन जो जीव है, वह देह से प्रारब्ध भोग पूरा कर अन्य देह में प्रवेश करने हेतु निकल जाता है । जैसे बर्तन में जल होने से प्रतिविम्ब पड़ता है, जल नष्ट होने से प्रतिविम्ब नहीं पड़ता ऐसे ही जब तक शरीर रूप घट में बुद्धि रूप जल भरा रहता है, तब तक कूटस्थ आत्मा का प्रतिविम्ब जीव जो समस्त कर्म का कर्ता एवं भोक्ता है वह बना रहता है । प्रारब्ध भोग पुर्ण होने पर जिस समय प्राण के सहित चिदाभास जीव अन्तःकरण एवं इन्द्रियां इस

शरीर को त्याग देते हैं तब यह सामान्य चेतन आत्मा चिदाभास युक्त जीव के बिना यह शरीर क्रिया नहीं कर पाता है । आत्मा तो अखण्ड सर्व व्यापक समान रूप से विद्यमान बना ही रहता है । समस्त देहों में देही तत्त्व नित्य और अवध्य है । श्रीकृष्ण का देह भी अनित्य है किन्तु आत्मा देही तत्त्व निर्गुण, निराकार ब्रह्म सब में समान रूप से रहता है ।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।

-गीता : २/३०

प्रश्न-४ : अहंकार के दो भेद कौन से हैं ?

उत्तर : एक मिथ्या मलिन अहंकार एवं दूसरा वास्तविक शुद्ध अहंकार । जैसे सिनेमा में एक साधारण व्यक्ति राजा होने का अभिनय करता है किन्तु वास्तव में तो वह अपने को जानता ही है कि मैं राजन ही हुँ मैंतो एक साधारण व्यक्ति हूँ । ऐसे ही जीव अपने को स्त्री-पुरुष, हिन्दु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, रोगी-निरोगी, बालक, युवा, वृद्ध, जन्मने-मरने वाला मानता है । यह उसका मलिन अहंकार है । जब जीव सद्गुरु द्वारा यह आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है कि मेरा वस्तविक स्वरूप तो द्रष्टा साक्षी आत्मा है तो यह अपने आपको देह से भिन्न आत्मा जानना यह जीव का अपना शुद्ध अहंकार है ।

ज्ञानी का 'मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ' यह भाव वास्तव में तो भीतर बना रहता है केवल व्यवहार के लिये ही मैं का सम्बन्ध देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, आदि में आरोपित कर कहता है कि मैं रोगी, मैं भूखा, मैं जवान, मैं जाता हूँ, मैं खाता, मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ इत्यादि । जब मलिन देहाभिमान, कर्तृत्वाभिमान ही न रहे तब शुद्ध अहंकार की भी आवश्यकता नहीं रहती । जब रोग नहीं तब औषध की भी जरूरत नहीं रहती । इसी प्रकार जब तक देहाध्यास रूप अज्ञान है तभी तक द्रष्टा,

साक्षी, आत्मज्ञान की आवश्यकता है । जब अज्ञान ही नहीं तब ज्ञान की आवश्यकता भी नहीं । सद्गुरु द्वारा अन्तःकरण में उत्पन्न हुई द्रष्टा साक्षी आत्म भाव रूप विचाराग्नि अविद्या रूप देहात्म बुद्धि को जला कर स्वयं भी शान्त हो जाती है, फिर अस्ति, भाति, प्रिय सामान्य चेतन आत्मा ही रह जाता है । तब द्रष्टा, साक्षी, सत्, चित, आनन्द आदि विशेष उपाधि नष्ट हो जाती है । जैसे पति होने तक ही वह स्त्री पत्नी है, यदि उसका पति नहीं तो वह स्त्री की पत्नी उपाधि भी समाप्त हो जाती है, केवल स्त्री संज्ञा ही शेष रहजाती है ।

ज्ञानी की वास्तविक दृष्टि तो शुद्ध सच्चिदानन्द, निर्विकार ब्रह्म ही है, परन्तु वह जिज्ञासुओं एवं सांसारियों के मध्य उनके ही अनुसार देहभाव रख वार्तालाप करता है ।

आत्मज्ञानी का जीवन ही सच्चा जीवन है, क्योंकि उसका जीव भाव ब्रह्म भाव में लीन होने से वह ब्रह्मा 'ब्रह्मावित ब्रहौव भवति' भाव को प्राप्त हो जाता है । फिर जन्म-मरण का भय समाप्त हो जाता है ।

प्रश्न-५ : ज्ञान क्या है ?

उत्तर :वह अज्ञान एवं ज्ञान दो नों को प्रकाशित करता है । वह अग्नि जो अग्नि और जल दोनों को जला दे, वह प्रकाशमान दिवस जहाँ दिन और रात नहीं है । वह आनन्द जहाँ हर्ष और शोक नहीं ठहर सकते, वह धन जहाँ अमीरी और गरीबी दोनों तुच्छ है, वह जीवन जिसमें जीवन एवं मृत्यु दोनों का अन्त हो जाता है । ''वह ज्ञान है ।'' ज्ञान ही ब्रह्म है । 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म'।

नाऽहं देहोऽहमात्मेति निश्चयो ज्ञानलक्षणम्

मैं देह नहीं हूँ, मैं द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हूँ ऐसा निश्चय हो जाना ही

ज्ञान का लक्षण है । यही ज्ञान मुक्ति का प्रमाण है । तो मैं देही, द्रष्टा, सच्चिदानन्दघन निर्गुण निराकार आत्मा हूँ, मैं देह कैसे हो सकता हूँ ? सबका देही तत्त्व अर्थात् आत्मा तो निर्गुण निराकार ब्रह्म ही हो सकता है ।

ज्ञानाग्नि में समस्त संसार के पदार्थों के नाम, रूप खो जाते हैं, लोक-परलोक मिथ्या हो जाते हैं, अग्नि व जल दोनों नष्ट हो जाते हैं । अर्थात् एक ब्रह्म रूप में सब दृश्य रह जाते हैं ।

'ज्योतिषामपि तज्जयोतिस्तमसः परमुच्यते' - गीता:१३/१७

ज्ञान प्रकाश ऐसा प्रकाश नहीं जो दिनके प्रकाश की तरह चमके एवं नेत्र से दिखाई पड़े । और न यह रात्रि के अन्धकार के समान अभाव रूप है जहाँ कुछ न भासे; किन्तु यह एक ऐसी ज्योति है जिसमें दिन-रात, प्रकाश-अन्धेरा दोनों भासते हैं और लीन हो जाते हैं । हर्ष-शोक अन्तःकरण का धर्म निश्चित हो जाने से अन्तःकरण समता भाव को धारण करलेता है । तब ज्ञानी को न हर्ष होता है न शोक ।

'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः' - ६/२२

आत्मज्ञान ही एक ऐसा धन है जिसको पाकर न तो सांसारिक धन की इच्छा रहती है और न दरिद्रता रह पाती है । जब परम आनन्द का ज्ञान होगया तो छाया रूप विषय सुख के पीछे कौन मुर्ख व्यर्थ दौड़ना एवं कष्ट उठाना चाहेगा ?

स्वप्न में तुम देखते हो 'अपना आपा' किन्तु कहते हो मैंने नगर, पहाड़, नदी, सर्प, हाथी, भूतादी देखे । देखते हैं स्वर्ण को को किन्तु अलंकारों के नाम बताते हो । देखते तो हो मिट्टी किन्तु आकारों के नाम बताते हो । सिनेमा में देखते तो हो प्रकाश किन्तु प्रशंसा करते हो दृश्यों की । इसी प्रकार तुम देखते तो हो जगत् के उपादान कारण स्वरूप ब्रह्म को

किन्तु जगत् का नाम बताते हो । अज्ञानी को जो जगत् दिखता है, ज्ञानी को वह ब्रह्मरूप प्रतीत होता है । जैसे अज्ञानी को सिनेमा दिखाई पड़ता है विवेकी उसे प्रकाश मात्र जानता है । 'सियाराम मय सव जग जानो'।

यद्यत्पश्यति चक्षुर्भ्याम् तत्तदात्मेति भावयेत ।
यद्यच्छृणोति कर्णाभ्यम् तत्तदात्मेति भावयेत ।
लभ्यते नासिका यद्यत् तत्तदात्मेति भावयेत ।
जिह्वामाहियद् रसनम् ह्लियते तत्तदात्मेति भावयेत ।।

- श्रुति

''जो कुछ नेत्र, कर्ण, नासिका, त्वचा एवं जिह्वा द्वारा विषय ग्रहण होते हैं सर्वं खल्विदं ब्रह्म ही जानो''

नाहं जातो जन्म मृत्यू कुतो मे,
नाहं प्रातः क्षुप्ति पासे कुतो मे ।
नाहं चित्तं शोक मोहौ कुतो मे,
नाहं कर्त्ता बन्ध मोक्षौ कुतो मे ।।

मेरा जन्म नहीं हुआ है, तब मृत्यु का मुझे क्यों भय होगा ? जब प्रातः स्नध्या नहीं तब मेरे लिये उपासना करना कर्तव्य कैसे हो सकेगी ? जब मैं चित्त नहीं हूँ तब उसका धर्म शोक, मोह मुझे कैसे हो सकेगा ? जब मैं कर्ता नहीं तो बन्ध-मोक्ष मेरे लिये कहाँ है ? अर्थात् मैं समस्त द्वन्द्व से रहित निर्द्वन्द्व, निर्विकार, निष्क्रिय, असंग, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, आनन्द स्वरूप एक मात्र आत्मा हूँ ।

न कर्मादि ना अविद्या निवृत्तिः
कर्म अज्ञान नयो विरोध न भवेत
ज्ञान अज्ञान विरोध भवेति
अतत्वज्ञाने नैवाज्ञान निवृत्तिः

तज्ज्ञानः दिचरादेव भवति ।।

कर्म द्वारा अज्ञान का नाश नहीं हो सकता, क्योंकि अज्ञान से उत्पन्न कर्म द्वारा अज्ञान का नाश होना सम्भव नहीं है । ज्ञान अज्ञान का विरोधी होने से साथ-साथ नहीं रह सकते । जैसे अन्धकार एवं प्रकाश साथ-साथ नहीं रह सकते । अतएव ज्ञान द्वारा ही अज्ञान का विनाश होता है । यही निश्चित सिद्धान्त है । यह ज्ञान सद्गुरु के सभीप विचार द्वारा जिज्ञासु के हृदय में उदय होता है ।

एक समय- आचार्य शंकर ने प्रभाकर ब्राह्मण के पुत्र से पूछा कि हे शिशु ! तुम कौन हो ? किसके पुत्र हो, कहाँ जा रहे हो ? तुम्हारा नाम क्या है ? कहाँ से आये हो ? इन प्रश्नों का सुस्पष्ट उत्तर देकर मुझे प्रसन्न करो । तुम्हें देख मुझे विशेष आनन्द हो रहा है ।

कस्त्वं शिशो कस्य कुतोऽसि गन्ता,
किं नाम ते त्वं कुत आगतोऽसि ?
एतद् वदं त्वं मम सुप्रसिद्धं
मत्प्रीतये प्रीति विवर्धनोऽसि ।

तब जन्म से मूक बालक द्वारा शंकराचार्य जी को उत्तर में कहा -

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षौ
न ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शुद्रः
न ब्रह्मचारी न गृही न वनस्थो
भिक्षुर्न चाहं निजबोध रूपः ।।१।।

मैं केवल निज बोध स्वरूप आत्मा हूँ ।

सूर्य जिस प्रकार लोक चेष्टा का कारण है उसी प्रकार जो स्वयं प्रकाश, चैतन्यात्मा है वह मन, चक्षु आदि इन्द्रियों की प्रवृति का कारण है

तथा सब प्रकार की उपाधियों से रहित आकाश तुल्य है, मैं ही वह नित्य-ज्ञान-स्वरूप आत्मा हूँ। -२

अग्नि की उष्णता के समान नित्य चैतन्य ही जिसका स्वरूप है, जो निश्चल और अद्वितीय है, जिन्हें आश्रय करके जड़ प्रकृति तथा मन, चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य में प्रवृत होती है, मैं वही नित्य-ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ। -३

दर्पण में दृश्यमान मुख का प्रतिविम्ब जिस प्रकार शरीर में स्थित यथार्थ मुख से पृथक् नहीं है। उसी प्रकार बुद्धि-दर्पण में जो आत्मा का प्रतिविम्ब रूप आभास चैतन्य जीव नाम से कथित है वह जीव जिस विम्ब ब्रह्म से अभिन्न है मैं वही नित्य-ज्ञान-स्वरूप आत्मा हूँ। -४

दर्पण के अविद्यमान होने पर जिस प्रकार प्रतिविम्ब शरीर अदृश्य होकर केवल कल्पना रहित एकमात्र शरीर स्थित मुख ही विद्यमान रहता है उसी प्रकार बुद्धि-वृत्ति के निरोध होने पर जो विम्ब रूप से अकेले ज्ञान रूप से विद्यमान रहता है वह बोध स्वरूप आत्मा ही मैं हूँ। -५

मन, चक्षु आदि से रहित होने पर भी जो मन का मन और चक्षु का चक्षु है तथापि जो मन या चक्षु आदि इन्द्रियों के अगोचर है, वह मैं ही नित्य-ज्ञान-स्वरूप आत्मा हूँ। - ६

विविध पात्रों के निर्मल जल में प्रतिविम्बित सूर्य की तरह जो अद्वितीय पुरुष निर्मल चित्त में स्वयं प्रकाशित होते हैं, जो प्रकाश-स्वरूप में अनेक विद्वानों की बुद्धियों के भीतर विभिन्न रूप से प्रतीयमान होते हैं, वही नित्य-ज्ञान-स्वरूप आत्मा मैं हूँ। -७

जिस प्रकार सूर्य एक साथ अनेक चक्षुओं में प्रकाश देकर वस्तुओं को प्रकाशित कर देता है। उसी प्रकार जो समस्त बुद्धि वृत्तियों का एकमात्र

प्रकाशक है वह ज्ञान-स्वयं प्रकार स्वरूप-आत्मा मैं ही हूँ ।-८

अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानं ने त मुह्यन्ति जन्तवः

-गीता : ५/१५

जिस प्रकार सूर्य प्रकाश से प्रकाशित होकर चक्षु रूप ग्रहण करने में समर्थ होता है उसी प्रकार सूर्य जिनकी ज्योति से प्रकाशित होकर चक्षु को भासित करता है मैं वही ज्ञान स्वयं प्रकाश-स्वरूप-नित्य आत्मा हूँ ।-९

एक ही सूर्य का प्रतिबिम्ब जिस प्रकार चंचल एवं स्थिर जल में विभिन्न रूप में प्रतियमान होता है उसी प्रकार जो एक होकर भी स्थिर और चंचल अनेक प्रकार की बुद्धियों में अनेक रूपों से प्रतीत होता है वही मैं नित्य-ज्ञान-स्वरूप आत्मा हूँ ।-१०

अतिमूढ़ व्यक्ति बादलों से अपनी दृष्टि ढक जाने से जिस प्रकार सूर्य को बादलों द्वारा ढका एवं प्रकाश रहित मान लेता है, उसी प्रकार मूढ़ बुद्धि वाले जिसे अज्ञान द्वारा ढका । समझते हैं मैं वही नित्यज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ । -११

जो सारे प्राणियों और वस्तुओं में व्याप्त तथापि कोई वस्तु जिन्हें स्पर्श नहीं कर सकती, जो आकाश के समान सर्वदा शुद्ध और अंसग स्वरूप है । मैं ही वह ज्ञान-स्वरूप आत्मा हूँ ।

प्रश्न-६ : मुझे आनन्द की प्राप्ति कैसे हो सकेगी ?

उत्तर : आनन्द स्वरूप होकर भी आनन्द प्राप्ति की इच्छा करना ही अज्ञान एवं देह तादात्म्यता का प्रमाण है । सुषुप्ति में तुम सुख रूप होते हो यह तुम्हारा दैनिक अनुभव है । उस वक्त जो तुम आनंद स्वरूप थे वही तुम आनन्द स्वरूप अभी हो । किन्तु जाग्रत होते ही अहम् वृत्ति अर्थात् देह में

मैं भाव उदय हो जाता है, उसके कारण अनेक संकल्प अंकुरित हो जाते हैं जो सहज आनन्द स्वरूप अवस्था को ढक देते हैं । आनन्द तुम्हारी सहजावस्था है । सुषुप्ति में निर्बाध आनन्दानुभूति सभी को होती रहती है । क्योंकि वहाँ कोई अहं वृत्ति नहीं रहती है ।

तुम सहज आनन्द स्वरूप हो । तो उसका उपभोग यह कहते हुए क्यों करते हो कि अहा ! कैसा विलक्षण आनन्द आया ! यह कैसा आनन्द दायक है !

निज आत्म सत्ता का विस्मरण न करना ही आनन्द की अनुभूति है । अपने आनन्द स्वरूप आत्मा में दुःख उसी प्रकार नहीं है जैसे सूर्य में कभी अन्धनकार नहीं होता । सुख-दुःख प्राप्ति का संयोग वियोग मन में होता है । तुम्हारा स्वरूप प्रेम का भी अधिष्ठान है । आनन्दता के कारण प्रेम उदय होता है ।

प्रश्न-७ : मोक्ष क्या है ? तथा पुण्य क्या है ?

उत्तर : तुम्हरा जन्म नहीं हुआ, तुम अजन्मा आत्मा हो यह जानना ही मोक्ष है । शान्त रहो और जानों कि मैं परमात्मा हूँ । उचित-अनुचित का भेद दर्शन पाप-पुण्य का मूल है । अपना पाप ही बाहर प्रतिविम्बित होता है, तथा अपने मन के पाप को अन्य व्यक्ति पर आरोपित कर देता है । मन वचन कर्म से अन्य प्राणी को सुख पहुंचाना ही पुण्य है ।

प्रश्न-८ : समाधि एवं सुषुप्ति में क्या भेद है ?

उत्तर : देहभाव की तरह आत्मभाव में बुद्धि का टिक जाना ही समाधि है ।

प्रयास सहित सत्य पर टिकना सविकल्प समाधि है ।

जगत् के बोध से रहित सत्य में विलीन हो जाना निर्विकल्प

समाधि है ।

जगत् के बोध से रहित अज्ञान में मन का डूब जाना सुषुप्ति है । जिसकी पहचान उसके सर झुक जाने से होती है । समाधि में बैठे व्यक्ति का सर नहीं झुकता ।

समाधि से तात्पर्य देहात्म-बुद्धि से परे होना है तथा देह का भान न होना समाधि नहीं है वह तो गहन निद्रा है जो सुषुप्ति में बिना प्रयास रोज होती है । उस अवस्था में पहुँचने से कल्याण नहीं है ।

समाधि के बिना हमारी किसी प्रकार की क्रियाओं का अस्तित्व नहीं है । चित्रों के आते जाते रहते हुए भी पर्दा विद्यमान है । इसी प्रकार व्यवहार काल के चित्र में भी अधिष्ठान आत्मा पर्दा है ही । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति हो चाहे मुर्छा, ध्यान समाधि आत्मा का सर्वदा अस्तित्व है ।

समाधि हमारा अस्तित्व है । समाधि हमारा स्वभाव है । हमारे स्वरूप का कभी भी अभाव नहीं हो सकता । विक्षेप में भी समाधि(अस्तित्व) बना रहता है ।

''मैं हूँ'' यह ही समाधि अथवा आत्म साक्षात्कार है । हमारे समस्त साधनों का उद्देश्य शरीर एवं व्यवहार के चित्रों में छिपे पर्दे रूप आत्मा का प्रकट करना है । अस्तित्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार करना है । ''*यह आत्मा साक्षात्कार की सीधी पद्धति है*'' । जिसकी इसमें पूर्ण श्रद्धा है उसे हठ योग समाधि, नाड़ी शोधन, सहस्त्रार पर एकाग्रता, सुषुम्ना, परानाड़ी, कुंड़लनी योग, प्राणायाम, नेति, धोति अथवा षटचक्र से कोई प्रयोजन नहीं ।

ध्यान समाधि से अवश्य आनन्द की प्राप्ति होती है, किन्तु वासनाओं एवं भ्रान्तियों का नाश नहीं होता । समाधि, ध्यान से हटने पर फिर संसार

उसी अज्ञान काल की तरह भेद रूप से भासने लगता है, जो बन्धन का कारण है । अतः विचार मार्ग से सहज समाधि प्राप्त करना सर्वोत्तम है ।

देहाभिमाने गलिते ज्ञातेन परमात्मन : ।
यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र समाधय ॥

प्रश्न-९ : अद्वैत का ज्ञान कराने हेतु द्रष्टा-दृश्य का भेद करना क्यों सिखाया जाता है ?

उत्तर : अनेक दृश्यों को देखने वाला द्रष्टा तो एक ही है जैसे अनेक शब्दों को सुनने वाला कान एक है । अनेक रूपों को देखने वाली आखँ एक है । अनेक गन्ध को ग्रहण करने वाली नासिका एक है । अनेक रसों को ग्रहण करनेवाली जिह्वा एक है । इसी प्रकार जब साधक अनन्त भेदों में से हट द्रष्टा-दृश्य रूप में आस्था करलेता है तब सद्‌गुरु उसे यह भी निश्चय करा देते हैं कि यह द्रष्टा-दृश्य भी मन की जाग्रत में कल्पना है । सुषुप्ति में द्रष्टा-दृश्य का भी भेद नहीं रहता है । स्वप्न का साक्षी ही समस्त स्वप्न संसार रूप होता है वहाँ स्वप्न नगर दृश्य एवं देखने वाला द्रष्टा अभिन्न ही है । द्रष्टा अन्त:करण एवं दृश्य पदार्थ के एकत्व से ही पदार्थ ज्ञान होता है ।

यदि मनुष्य स्वयं को द्रष्टा मानने की भूल करेगा तो उसे दृश्य अवश्य ही पृथक् प्रतीत होगें । इसकी अपेक्षा साधक अपने को वह पर्दा माने जिस पर द्रष्टा एवं दृश्य दोनों प्रदर्शित होते हैं तो उसे कोई भेद भ्रम नहीं होगा । तब उसे अपनी अखंड सत्ता के कारण मन के उदय अस्त होने से उनका प्रकाशक साक्षी मात्र ही रहेगा ।

चित्रपट पर चित्र चलते प्रतीत होते हैं । तुम जाकर उन्हें पकड़ो । क्या वे पकड़ में आवेंगे ? वहाँ केवल पर्दा ही मिलेगा । चित्रों के समाप्ति पर क्या बचता है ? वही परदा । यहाँ भी ऐसा ही है । जब जगत्

भासित हो रहा है तब वहाँ केवल परमात्मा ही एक मात्र है । यह देखो कि जगत् किसे भासित हो रहा है ? मैं के आधार को पकड़ो आधार को पकड़ लेने के पश्चात् जगत् भासित् होता है अथवा नहीं इससे साक्षी में क्या अन्तर पड़ता है ? कुछ नहीं ? सुषुप्ति में जगत् भासमान नहीं होता है एवं जाग्रत में जगत् भासमान होता है इससे भासमानता में क्या अन्तर पड़ा ? कुछ नहीं ।

मन जिस दृश्य के पीछे भागता है वह दृश्य पदार्थ जगत् मन से भिन्न नहीं एवं जिस साक्षी के साक्षीत्व में मन भागता है वह मन साक्षी से भिन्न नहीं है ।

महत्व स्वप्न व दृश्य जगत् के पदार्थों का नहीं, द्रष्टा का है । द्रष्टा के बिना किसी भी दृश्य की स्थिति नहीं है । दृश्य आकर हमसे नहीं कहते कि हम हैं, हमें देखो, पकड़ो एवं भोगो । किन्तु वह तुम ही हो, जो यह कहते हो कि यह दृश्य है । यह भोगने योग्य है,यह त्यागने योग्य है इस प्रकार दृश्यों का अस्तित्व द्रष्टा के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है । उनका द्रष्टा से स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है यह मालुम करो कि तुम क्या हो ? तब जानना संसार क्या है ? मालुम होगा कि मेरे अतिरिक्त संसार नाम रूप सत्ता हीन है ।

प्रश्न-१० : ज्ञानी के स्वजन की मृत्यु हो जाने से उसे दु:ख क्यों नहीं होता ?

उत्तर : बाल्टी में जल एवं जल में सूर्याभास है । यदि कोई बाल्टी के जल में पत्थर मारे तो जलाभास सूर्य की हलचल से आकाश स्थित सूर्य में क्या क्षोभ होगा ? कदापि नहीं । इसी प्रकार किसी सम्बन्धी की मृत्यु या किसी वस्तु की हानि से चिदाभास युक्त अन्त:करण में क्षोभ होने से मुझ असंग, साक्षी आत्म देव को दु:ख नहीं हो सकता ।

प्रश्न-११ : शरीर में रोग होने से ज्ञानी की क्या स्थिति रहती है ?

उत्तर : मकान की छत या दीवार में दरार पड़ जावे तो उसके प्रकाशक प्रकाश की क्या हानि ? उसका काम तो प्रकाश करना मात्र है । दीवार, छतादि को ठीक करने की जिम्मेदारी तो मकान के मालिक को है । इसी प्रकार देह के रोग के साथ मुझ असंग आत्मा का क्या सम्बन्ध ? देह अभिमानी जीव ही देह के कष्ट भोगता है एवं वही रोगों का उपचार कराने की चेष्टा करता है ।

प्रश्न-१२ : देह नाश होने से ज्ञानी अपना नाश क्यों नहीं मानता ?

उत्तर : मकान के नाश होने से अकाश का कभी नाश नहीं होता आकाश असंग है । ऐसे ही ज्ञानी अपने को मैं, असंग, आत्मा हूँ ऐसा दृढ़ता से जानता है एवं देह के जन्म-मृत्यु आदि षड् विकारों से अपने को अलिप्त हूँ ऐसा मानता है ।

प्रश्न-१३ : बुद्धि आत्मा क्यों नहीं है जबकि वह सब को जानती है ?

उत्तर : नहीं ! बुद्धि आत्मा नहीं है क्योंकि बुद्धि पर है, दृश्य है । मैं आत्मा आरूढ़ हुआ बुद्धि एवं सर्व देह संघात् को प्रकाशित करता हूँ । 'मेरा घट' की तरह 'मेरी बुद्धि' ममता का विषय बन जाती है । जो ममता का विषय होता है वह कभी मैं नहीं हो सकता । अत: बुद्धि ममता का विषय होने से जड़ है । जो-जो पदार्थ इदं रूप पर प्रकाश्य होते हैं वह सब जड़ होते हैं ।

प्रश्न-१४ : क्या आत्मा सर्वव्यापक होने से सब जानता है ?

उत्तर : आत्मा का सामान्य एवं विशेष दो रूप है जैसे दियासलाई

में अग्नि के सामान्य एवं विशेष दो रूप है । सामान्य रूप अग्नि किसी को जलाती नहीं किन्तु घर्षण से उत्पन्न विशेष अग्नि ही जलाती है । इसी प्रकार आत्मा का सामान्य स्वरूप किसी पदार्थ को नहीं जानता है बल्कि आभास सहित बुद्धि मुझ आत्मा के द्वारा द्वैत की कल्पना करती है एवं समस्त पदार्थ को जानती है । आत्मा मैं, अद्वैत हूँ जानना द्वैत में होता है । मेरे अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं तब मैं किसे जानू ?

प्रश्न-१५ : यदि तुम आत्मा सर्व शरीरों में विद्यमान हो तो मेरे मन में जो विचार चल रहा है उसे क्यों नहीं बता पाते ?

उत्तर : बिजली सर्व मकानों में एक है एवं हर घर का खर्च बताने वाला अभिमानी मीटर उस घर में लगा हुआ है । जिस घर का खर्च जानना है वहाँ का मीटर बतलाता है बिजली नहीं । ऐसे ही आत्मा मैं सर्व शरीरों में एक होने पर भी हर शरीर में उसका अभिमानी चिदाभास जीव है वह अपने उसी शरीर इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि अवस्थाओं को जानता है ।

जैसे बिजली ही हर घर की प्रकाशिका है उसके बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता, इसी प्रकार सर्व शरीरों का प्रकाशक मैं साक्षी आत्मा हूँ । और प्रत्येक शरीर अभिमानी जीव अपने-अपने देह संघात् का ज्ञान रखते हैं ।

शरीर की अवस्था बताने वाली एवं जानने वाली उस शरीर में रहने वाली बुद्धि होती है और मैं वाणी एवं बुद्धि का भी प्रकाशक हूँ । यदि मैं न रहूँ तो वाणी, मन, बुद्धि कुछ भी नहीं कर सकेंगे । अत: मैं ही सर्व प्रकाशक स्वत: सिद्ध स्वयं प्रकाश हूँ एवं मेरी उपस्थिति में ही समस्थ देहाभिमानी जीव अपने-अपने शरीर का कार्य सम्भालते रहते हैं । मैं केवल साक्षी, उपद्रष्टा मात्र रहता हूँ ।

प्रश्न-१६ : समाधि द्वारा कल्याण होगा ?

उत्तर : पानी भरी बाल्टी में सूर्य के प्रतिविम्ब में चंचलता प्रतीत होने से सूर्य में कोई भी विकार हल चल नहीं होता, क्योंकि सूर्य का धर्म अचल है । प्रतिबिम्ब कभी भी जल में अचल नहीं रह सकता । ऐसे ही साभास बुद्धि में विक्षेप हो रहा है तो उसे ही अचल होना है, किन्तु मुझ साक्षी में कोई विक्षेप नहीं इसलिये समाधि ध्यान की भी जरूरत नहीं । बाल्टी के जल में सूर्य आभास बद्ध है प्रकाशक सूर्य नहीं । इसलिए उसे मुक्त होने की जिज्ञासा भी नहीं हो सकती क्योंकि वह विराट् आकाश में सदा मुक्त है । इसी प्रकार चिदाभास बुद्धि (जीव) में ही बद्धता का भ्रम पैदा होता है, उसी को मुक्ति के लिये इच्छा एवं प्रयास कर्तव्य है । वह जीव ही समाधि अभ्यास द्वारा अपने बन्धन भ्रम को त्याग कर अपने स्वत:सिद्ध कल्याण स्वरूप साक्षी, आत्म भाव को ग्रहण करे, अर्थात् आभास अपने आपको आत्म रूप समझे, उसे जानकर ही वह जीव मुक्ति को प्राप्त होता है । मैं आत्मा तो समाधि, विक्षेप का प्रकाशक असंगात्मा हूँ मुझ में समाधि कर्तव्य नहीं ।

सदा मे समत्वं न बन्धम् न मुक्ति, चिदानन्द रूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्

न निरोधो न चोत्तपत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तः इत्योषा परमार्थितः ॥

मुझ नित्य, मुक्त, अजन्मा, आत्मा में न बन्धन है न मुक्ति । न यहाँ कोई साधक है न मुमुक्षु है । एक नित्यसिद्ध आत्मा के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं है, यही सत्य है ।

प्रश्न-१७ : ज्ञानी को स्वर्ग, वैकुण्ठ आदि लोक या विदेश जाने

की इच्छा क्यों नहीं होती ?

उत्तर : क्या महाकाश घट में प्रथम से विद्यमान नहीं है ? क्या महाकाश का गमना गमन सम्भव है ? महाकाश तो हर घट मठ में प्रथम से ही भीतर बाहर सर्वत्र परिपूर्ण है । उसके लिये किसी विशेष घट में जाना बन नहीं सकता । ऐसे ही आत्म देव मैं सर्वत्र पूर्ण हूँ । मुझे स्वर्ग-वैकुण्ठादि लोकों या विदेशों में आना-जाना बन नहीं सकता । देह ही एक स्थान से अन्य स्थान जीव के द्वारा ले जाया जा सकता है, न कि पूर्ण आकाश कहीं जाता है । इसलिए लोक या विदेश जाने की कामना एक शरीर में विद्यमान जीव को ही कर्तव्य रूप हो सकती है मुझे अखण्ड सर्व व्यापक आत्मा के लिये कोई कर्तव्य नहीं ।

प्रश्न-१८ : निरन्तर सर्व प्रेरक आत्मा थकता क्यों नहीं ?

उत्तर : मैं आत्मा तो विश्राम सागर हूँ । सभी इन्द्रियां, वृत्तियां मनादि नदियाँ मुझमें अनन्त आनंद सागर को प्राप्त हो कर ही विश्राम को प्राप्त करती है । जब जीव वृत्ति रूपी नदियाँ चमें लते-चलते, बहते-बहते थक जाता है तब मुझ आनन्द सागर में डुबकी लगाकर यह जीव विश्राम को प्राप्त होता है । आत्म समुद्र को विश्राम की आवश्यकता नहीं । वह तो अपने स्वरूप में अपनी महिमा में अचल ही रहता है । मैं आनन्द दाता हूँ, आनन्द का भिखारी नहीं हूँ । जीव ही भिखारी है वह ही समाधि, ध्यान रूप भिक्षावृत्ति के पात्र लिये मुझ आनन्द दाता के द्वार पर शरण ग्रहण करता है ।

प्रश्न-१९ : तुम बेशर्म हो ?

उत्तर : ठीक कहते हैं कोई दूसरा जब घर या बाथरूम में नहीं तब व्यक्ति शर्म किसकी करे । इसी तरह मेरे अलावा यहाँ किंचित् भी अन्य

नहीं ऐसा श्रुति कहती है ।

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचिन्"

तब मैं किस की शर्म करूँ ?

प्रश्न-२० : तुम बड़े ढीठ हो ?

उत्तर : मुझको आपने बिलकुल ठीक कहा है मैं कूटस्थ आत्मा हूँ अनादि से मन के विकार मेरे सहारे मेरी शक्ति पाकर हो रहे हैं किन्तु मेरे साक्षी स्वरूप में कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ । मन ही ऊंच-नीच कर्म से ८४ लाख योनियों में भ्रमित होता दुःख सुख भोगा करता है । मेरे आधार से ही अनेक मन में संकल्प, विकल्प, चिन्ता-हर्ष, शोक, राग-द्वेष, भय-मोह के प्रहार होते ही रहते हैं । परन्तु मैं कुटस्थ द्रष्टा साक्षी आत्मा एक रस बना रहता हूँ क्योंकि मैं अचल एक रस हूँ ।

प्रश्न-२१ : तुम आलसी हो ?

उत्तर : बिलकुल ठीक है । घर में काम करने वाले कर्मचारी कर्म करते हैं । किन्तु प्रकाश कोई काम नहीं करता । काम करने वाला देह अभिमानी जीव है, वही थकता हैं एवं आलसी होता है । सर्कस के खेल में कलाकार ही श्रम करते हैं । दर्शक तो केवल खेल के साक्षी ही रहते हैं । ऐसे ही मन, इन्द्रिय, प्राण द्वारा क्रिया हो रही है समस्त व्यवहार देह संघात् द्वारा होता रहता है । मैं तो प्रकाशवत् अक्रिय एवं असंग ही हूँ ।

प्रश्न-२२ : ट्रेन में तुम्हारी अटेची चोरी हो गई यह सुन हमें बहुत दुःख हुआ उसवक्त आपको कैसा लगा ?

उत्तर : आपने घर के सामान को घर में कहीं भी छिपाकर, उठाकर रख देने से वह सामान मालिक को सुखी-दुःखी नहीं करता है । इसी तरह संसार रूपी घर में मेरा धन किसी जीव के पास रखा रहे उसमें मुझे हर्ष -

शोक कभी नहीं होता ।

समुद्र में अनेक फेन, तरंगे, बुदबुद हो एवं शान्त हो जावें जल की क्या हानि या लाभ होगा ? समुद्र जल तो सदा अपनी महिमा में ही विराजमान है । ऐसे ही मुझ आत्मदेव में सांसारिक पदार्थ कल्पित तरंग मात्र है । यदि यह वैभव बना रहा तो मेरा कोई गौरव नहीं एवं वैभव नष्ट हो जावे तो मेरी कोई हानि नहीं । पृथ्वी से बाहर यदि कुछ वस्तु, धन, जन, जासकता होता तब चोरी मानी जाती किन्तु पृथ्वी की वस्तु पृथ्वी पर ही तो है । चोरी कहाँ है ?

प्रश्न-२३ : क्या तुम मेरा पीछा नहीं छोड़ोगे ?

उत्तर : यदि तार न रहे तो फिर पुष्प माला के पुष्प कहाँ होगें ? तार के आश्रित ही तो सब पुष्प ठहरे हैं । 'मैं न रहूँ' तो यह जगत् दिखना सम्भव नहीं है । यदि मैं अपनी सत्ता तुम सभी दृश्य से खींचलूं तो प्रलय ही सब ओर हो जावेगा । जैसे कारखाने, नगर, घर से बिजली अपनी सत्ता खींचले तो सब और अन्धकार ही अन्धकार हो जावेगा ।

प्रश्न-२४ : जब शरीर जला दिया जायगा तब तो तुम नष्ट हो जाओगे कि नहीं ?

उत्तर : मकान के नष्ट होने से आकाश नष्ट नहीं होता इसी प्रकार देह के नष्ट होने से मुझ आत्मा का नाश नहीं ।

प्रश्न-२५ : तुम जड़ हो ?

उत्तर : समस्त दृश्य को प्रकाशित करने वाला मैं जड़ नहीं हो सकता । जड़ को प्रकाशित करने वाला मैं स्वयं ज्योति, स्वयं प्रकाश चैतन्य आत्मा हूँ ।

प्रश्न-२६ : इन्द्रियाँ आत्मा क्यों नहीं हो सकता ?

उत्तर : मकान की खिड़की किसी बाहर की घटना व्यक्ति, वस्तु को नहीं जानती, बल्कि घर का स्वामी ही जानता है । खिड़की तो उस स्वामी के देखने झांकने का द्वार मात्र है । इसी प्रकार देह का स्वामी ज्योतियों का ज्योति अपनी ज्ञान ज्योति से पांचों इन्द्रिय द्वार रूप खिड़की से सब कुछ देखता है । इन्द्रियां तो ममता का विषय होने से जड़ है । जैसे मेरी आँख, मेरा कान मेरी धड़ी

प्रश्न-२७ : यदि जगत् नहीं तो भासता क्यों है ?

उत्तर : स्वप्न नहीं होने पर भी, रज्जु में सर्प न होने पर भी, आकाश में इन्द्र धनुष न होने पर भी, मरुस्थल में जल न होने पर भी, कटे वृक्ष में भूत न होने पर भी, जल में पुरुष, पेड़ न होने पर भी, पृथ्वी व आकाश का मिलन न होने पर भी, रेल लाइन का मिलन न होने पर भी पानी के टेंक में लकड़ी, लोह राड टेड़ा न होने पर भी, बादलों के बिच चन्द्रमा न दौड़ने पर भी, सूर्य में उदय अस्त न होने पर भी जैसे दिखता है, वेसे ही जगत् न होने पर भी दिखाई पड़ता है । अन्धकार के कारण रस्सी में सर्प की तरह अज्ञान के कारण आत्मा में जगत् भासमान होता रहता है किंतु विचार काल में स्वप्न एवं जगत् की सत्ता ही नहीं रहती । जैसे प्रकाश होने पर रस्सी में सर्प नहीं रहता ।

'न रुपमस्येह तथो पलस्यते' -गीता : १५/३

इस संसार वृक्ष का जैसा अज्ञान काल में वर्णन किया जाता है वेसा सद्गुरु द्वारा एक अखण्ड ब्रम्ह सत्ता का मैं दृष्टा साक्षी आत्मा हुँ इस विचार काल मे नहीं पाया जाता ।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

जैसे रस्सी में सर्प कल्पित होता है इसी प्रकार तीन अवस्था भी आत्मा में कल्पित है । दीपक सड़क पर चलते सभी यातायात को

प्रकाशित करता रहता है इसी प्रकार मैं अखंड ज्ञान प्रकाश आत्मा समस्त वृत्ति एवं अवस्थाओं को प्रकाशित करता रहता हुँ ।

प्रश्न-२८ : अन्त:करण में ही सर्व व्यापक परमात्मा का दर्शन क्यों होता है अन्यत्र क्यों नहीं ?

उत्तर : पृथ्वी का शुद्ध अंश दर्पण, तेल, या जल में ही मनुष्य, पेड़, पशु, पक्षी का प्रतिविम्ब पड़ता है, पत्थर, लकड़ी, कागज दिवार पर नहीं पड़ता है । इसी प्रकार सत्वगुण के कार्य अन्त:करण की शुद्धि के कारण ही वहाँ परमात्मा का अनुभव होता है । अखण्ड ब्रम्ह अन्यत्र अस्ति, भाति, प्रिय रूप से विद्यमान होने पर भी आत्मा ब्रह्म का अनुभव सत्वगुण प्रधान शुद्ध अन्त:करण में ही होता है ।

प्रश्न-२९ : जीव का स्वरूप क्या है ?

उत्तर : क्या प्रतिविम्ब का स्वरूप विम्ब से भिन्न हो सकता है ? कभी नहीं । जैसे जल या दर्पण में सूर्य या मानव का दिखाई देने वाला प्रतिविम्ब कया वह सूर्य या मानव से भिन्न हो सकता है ? सत्य तो सूर्य या मानव ही है । ऐसे ही बुद्धि के अन्दर जो कूटस्थ मुझ आत्मा का आभास (चिदाभास) पड़ रहा है जिसे जिव कहते है वह वास्तव में मुझ आत्मा से अपनी भिन्न सत्ता नहीं रखता है फिर भी उसका अन्त:करण के साथ कल्पित स्वरूप अध्यास होने से वह जीव सुखी-दुःखी, कर्ता-भोक्ता-सा प्रतीत होता है । परन्तु यह भ्रम है वास्तव में तो जीव ब्रह्म स्वरूप ही है ।

"जीवो ब्रह्मैव ना पर:"

प्रश्न-३० : सुना है तुम्हारे को चोटं लगी है ?

उत्तर : यदि मकान पर कोई पत्थर मारे तो क्या उसके प्रकाशक असंग प्रकाश को भी चोंट लगेगी ? ऐसे ही शरीर पर चोंट लगने से मुझ असंग आत्मा को कोई भी चोंट, हानि नहीं पहुँचा सकता ।

एक भी इन्द्रिय नहीं होने से प्रकाशक की कोई हानि नहीं इन्द्रियाँ तो झरोखे है, जिसमें से जीवात्मा बाहर देखता रहता है ।

इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना ।
तहं सुर करि बैठे थाना ॥

राम झरोखे बैठ कर सबका मुजरा लेय ।

'जैसी जाकी चाकरी वैसा ही फल देय ।'

स्वयं प्रकाश साक्षी आत्मा तो इन्द्रिय के भाव अभाव दोनों अवस्था का प्रकाशक है ।

प्रश्न-३१ : तुम पापी हो या पुण्यात्मा ?

उत्तर : सूर्य के प्रकाश में कोई यज्ञ, पूजा, पाठ, दान करे अथवा चोरी, हत्या, जूआं, व्यभिचार करे सूर्य को किसी प्रकार पुण्य पाप स्पर्श नहीं कर ता है । इसी प्रकार मुझ आत्मा के प्रकाश में अहंकारी मन अच्छे बुरे कर्म कर्ता है तो वही उन कर्मों का फल सुख-दुःख भोक्ता है । मैं साक्षी असंग हूँ स्फटिक की तरह नित्य निर्मल हूँ ।

प्रश्न-३२ : तुम्हारी क्या जाति है ?

'मयि सर्वमिदं प्रोतं सुत्रे मणिगणा एव ।' गीता : ७/७

उत्तर : पुष्प अनेक नाम, जाति, रंग सुगन्ध के होते हैं किन्तु पुष्पों को धारण करने वाले सूत्र की कोई जाति नहीं होती । इसी प्रकार मुझ आत्मा सबके आधार से ही सर्व ब्रह्माण्ड के शरीर स्थित है । इसलिये मुझ व्यापक आत्मा की कोई जाति नहीं है ।

'न मे मृत्यु शंका न मे जाति भेदा ।'

प्रश्न-३३ : तुम कब पैदा हुए थे ?

उत्तर : घट उत्पत्ति से आकाश की उत्पत्ति नहीं होती । ऐसे ही

माया के कार्य शरीर की उत्पत्ति का समय तो होता है किन्तु मुझ नित्य, अजन्मा आत्मा की उत्पत्ति कभी भी नहीं होती; क्योंकि मैं आत्मा निर्विकार हूँ । जन्म-मृत्यु आदि षड् विकार देह के हैं ।

प्रश्न-३४ : तुम्हारा क्या देश है ?

उत्तर : परिच्छिन्न पदार्थ में ही देश है । अपरिच्छिन्न आकाश का अपना कोई पृथक् देश नहीं है । सभी देश, काल, वस्तु परिच्छिन्न से रहित मैं अखण्ड व्यापक आत्मा हूँ ।

प्रश्न-३५ : आपके पिता माता कौन है ?

उत्तर : घट का कर्ता कुम्हार होने से घट की उत्पत्ति होती है न कि आकाश की और न घटके नाश होने से आकाश का नाश होता है । ऐसे ही देह के माता पिता होते हैं, क्योंकि यह देह उत्पत्ति-नाश वाला है, किन्तु आकाश की तरह आत्म-देव जो मेरा स्वरूप है कभी किसी से उत्पन्न नहीं हुआ इसलिये मुझ अजन्मा का कोई पिता, माता, बन्धु, सखा नहीं है ।

देह रूप पुष्प आत्मा रूप सुत्र के आधार से स्थित है । पुष्प खिलते, मुर्झाते झड़ जाते हैं सुत्र ज्यों का त्यों एक रस रहता है । इसी प्रकार देह पुष्पों के बढ़ने, घटने पर भी मैं एक रस ही रहता हूँ ।

पिता नेव मे नेव माताश्च जन्मः

प्रश्न-३६ : मैं ध्यान करता हूँ किन्तु शान्ति एवं एकाग्रता मुझे प्राप्त क्यों नहीं होती ?

उत्तर : मैं एकाग्र, शान्त नहीं हो पाता हूँ, मुझे ध्यान नहीं लग पाता है । यह विचार ही तुम्हारे नित्य प्राप्त ध्यान, शान्ति तथा एकाग्रता में बाधक है । तुम्हारा स्वभाव ही शान्त एकाग्र तथा आनन्द स्वरूप है । ऐसे नकारात्मक विचार ही साक्षात्कार के मार्ग में बाधक है । अनात्मा से दृष्टि हटा आत्मा की ओर मन बुद्धि को लगाने हेतु प्रथम विचार आवश्यक है

किन्तु आत्म साक्षात्कार के पश्चात् आत्मभाव में ही रहना चाहिये । ध्यान-निदिध्यासन तो मन की बाधाओं के हटाने हेतु साधन बताया जाता है न कि आत्मोपलब्धि के लिये । क्या आत्मा से कोई पृथक् है ? नहीं आत्मा का सत्य स्वभाव शान्ति एवं आनन्द ही है ?

आत्मा तुम स्वयं हो । स्वयं स्वयं को न भूल सकता है न ध्यान कर सकता है । यदि ध्यान करना पड़े या भूल जावे तो दो आत्मा मानना पड़ेगी, जिनमें एक दूसरे को भूले एवं एक दूसरे को ध्यान के द्वारा याद करे । ध्यान, समाधि का विचार एवं चेष्टा ही तुम्हारे सहज ध्यान, सहज समाधि 'प्राप्त स्वरूप' में बाधक बने हैं । मैं असंग, नित्य समाधिस्थ आत्मा के लिये समाधि लगाना मूर्खता मात्र है । तुम अद्वितीय असंगात्मा हो ।

मुझे कुछ याद नहीं रहता इस तुम्हारे भूलने में भी तुम्हारी उपस्थिति है । ज्ञान सन्निहित है, ज्ञान विद्यमान है । कारण तुम्हें यह ज्ञान है कि तुम विस्मृत कर गये । अन्यथा तुम विस्मरण की बात किस प्रकार कह पाते ?

किसी भी वस्तु का चिन्तन तभी सम्भव है, जब हम उससे पृथक् हों, जबकि हम शुद्ध अखण्ड ज्ञान से पृथक नहीं रह सकते । वस्तुतः हम वही है । अपने स्वरूप की इस या उस रूप में कल्पना क्यों करते हो ।

प्रश्न-३७ : ईश्वर आराधना किस प्रकार करूँ ?

उत्तर : ईश्वर आराधना हेतु ''मैं'' अवश्य होना चाहिये । मैं इधर तथा आराधना के लिये ईश्वर दृश्य रूप उधर होना चाहिये । जो आराधना करने पर प्रकट हो वह सत्य नहीं हो सकता । सत्य आज, यहाँ और तुम्हारे रूप में है, तो ही वह सत्य है । जो आज, अभी हमारे रूप में नहीं होगा वह सत्य भी नहीं होगा । मैं की उपस्थिति सब समय, सब अवस्था में विद्यमान है । जो अति समीप है उसे खोज लो वही नित्य एवं सत्य है ।

ध्यान द्वारा प्राप्त होने वाली अवस्था सत्य नहीं है ।

तुम स्वयं वह सत्य तत्त्व हो । तुम आत्मा से पृथक् नहीं हो जिसका ध्यान कर सको । ध्यान करने हेतु कर्म करने हेतु तुम्हें अस्तित्त्ववान होना पड़ेगा । निज अस्तित्त्व को साक्षात् परमात्मा जानना ही सच्ची आराधना है ।

प्रश्न-३८ : मुझे पूर्णतया आत्मा स्पष्ट कैसे हो सकेगी ?

उत्तर : यह विचार करने के लिये भी तुम्हें प्रथम आत्मा होना ही होगा । अस्तित्त्ववान होना ही होगा; क्योंकि जड़ देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्त:करण तुम्हारे बिना कोई संकल्प भी नहीं उठा सकेंगे । तुम किसी भी विचार का ग्रहण-त्याग करो किन्तु उसमें तुम्हारा होना जरूरी है । विचार परिवर्तनशील है किन्तु तुम समस्त परिवर्तनों के प्रकाशक अचल साक्षी आत्मा ही रहोगे । अत: परिवर्तनशील अनात्म विचारों का त्याग कर आत्मा में स्थिर रहो । यह विचार ही तुम्हारा बन्धन है कि मुझे ऐसा नहीं होता, मुझे वैसा नहीं होता, मुझे ऐसा क्यों होता है ? अस्तु अनात्म चिन्तन का त्याग करो एवं आत्म भाव में रहो यही आत्मानुभूति है ।

प्रश्न-३९ : मुझपर परमात्मा का अनुग्रह कैसे होगा ?

उत्तर : प्रसाद तुम्हारे पास सदैव है तुम्हें केवल इतना ही करना है कि तुम अनात्म देह में मैं भाव कभी न करो । तुम स्वयं को बहिर्मुख मन से संयुक्त कर अपने को देह रूप कर्ता, भोक्ता, दु:खी, अज्ञानी मत जानो । सदा आत्मा, साक्षी द्रष्टा होकर ही रहो । सब पर कृपा करने वाले तुम किससे कृपा भिक्षा की इच्छा करते हो ? तुम अपने पर ही कृपा करो कि देह भाव होकर न रहो । अनुग्रह ही आत्मा है जो हर क्षण तुम्हारे ऊपर वर्षा हो रही है । यह आत्मा तुम ही हो । यह कोई अन्य वस्तु नहीं है जिसकी प्राप्ति किसी की कृपा, प्रसाद, अनुग्रह से होगी । केवल इसके अस्तित्त्व

का बोध होना आवश्यक है। आत्म साक्षात्कार नित्य सिद्ध है अभी, यही औरं वह तुम श्वयं हो। यदि अभी नहीं कालान्तर में होगा तो फिर वह नित्य भी नहीं होगा एवं ऐसा अस्थायी अनित्य पदार्थ पाने योग्य भी नहीं रह जाता।

अनुग्रह आत्मा प्रारम्भ में है मध्य में है तथा अन्त में है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित:।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।

- गीता : १०/२०

अनुग्रह ही आत्मा है। बाहर से मन हटा अन्दर की और ढकेलना तथा अन्दर बैठ उसे अपनी और खीचंना यह गुरु अनुग्रह है।

प्रश्न-४० : क्या मौन से कोई लाभ है ?

उत्तर : सच्चे सद्गुरु के समीप चुप बैठने से ही एक अपूर्व शान्ति का मन में अनुभव होता है। यह मौन सर्वोच्च आराधना एवं उपदेश है।

एक घण्टा जोर दार उग्र प्रवचन सुनने के बाद भी यदि श्रोता के मन में परिवर्तन करने की कोई प्रेरणा जाग्रत न हो एवं उससे कोई व्यक्ति प्रभावित हुए बिना ही चला जाय तो उस प्रवचन का क्या लाभ ? इसकी अपेक्षा तो एक पवित्र आत्मा के पास में बैठकर ही उसके जीवन में परिवर्तन हो जावे एवं वह पूर्णतया बदल जावे, वह सर्वाधिक श्रेष्ठ है।

कुछ भी करना नहीं है। तुम नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तात्मा ही हो। यह तुम्हारी अवस्था सहज तथा नित्य है, बस अपने देह भाव, कर्ताभाव का अभिमान ही त्याग करना है। किसी नवीन वस्तु की प्राप्ति करने जैसा यह आत्म तत्त्व नहीं है। तुम ही आत्मा हो। जो अभी यहाँ विद्यमान है वही सत्य है। वही आत्मा है। जो अभी यहाँ तुम्हारे रूप में नहीं वह सत्य

भी नहीं है । वह आत्मा भी नहीं है ।

प्रश्न-४१ : मैं एकान्त में जाना चाहता हूँ क्या यह विचार आना पुण्य का फल है ?

उत्तर : एकान्त का अर्थ है आत्मा में स्थिर रहना । पृथ्वी पर वही अकेला है उसके अलावा अन्य कुछ भी नहीं है ।

''नेह नानास्ति किंचन्''

अतः एक प्रकार के वातावरण को त्याग कर किसी नूतन स्थान या वातावरण में जाने की कभी इच्छा न करो । न किसी कल्पना के जाल में फंसो । तुम आत्मा अभी यहाँ एकान्त ही हो । गृह त्याग कर जाने की इच्छा ही बाधा है । आत्मा केवल है । आत्मा सर्व त्यागी है ही । सुषुप्ति में तुम त्यागी, संन्यासी एकान्त वासी नित्य बने रहते हो वहाँ मैं, तु कुछ भी नहीं है । यह संसार तो मन की रचना है जो स्वप्न की तरह कल्पित है । सर्वत्र एक साक्षी आत्मा के अलावा कुछ नहीं है । विचारो ! कि यह एकान्त में जाने की, गृह त्याग की, वासना किसे उदय हुई ? शरीर को या आत्मा को ? दोनों को नहीं । मन से यदि तुम आत्म भाव में रहोगे तो आत्मा से अलग कुछ नहीं दिखायी देगा । तब संयम आदि की आवश्यकता भी नहीं रहेगी ।

प्रश्न-४२ : सुषुप्ति अवस्था में बाहर-भीतर का भाव क्यों नहीं रहता ?

उत्तर : यदि उस समय कुछ होता तो स्मरण रहता । परन्तु वहाँ कुछ भी नहीं था । इसीलिए 'कुछ भी नहीं' का स्मरण नहीं होता । परन्तु तुम उस समय अपने अस्तित्त्व को स्वीकार करते हो कि मैं सुख से सोया और कुछ भी पता नहीं चला । वही आत्मा अब बोल रहा है । जो आत्मा

सुषुप्ति में भेद भाव द्वैत भाव से रहित था अब मन के संयोग से वही भेद एवं द्वैत भाव युक्त नानत्व देख रहा है। वास्तविक सत्ता केवल एक है। जिसमें दृश्य पदार्थों का ज्ञान नहीं है, वही शुद्ध चैतन्य है, वही आनन्द की अवस्था है। इस सुषुप्ति के अनुभव को सब स्वीकार करते हैं। सुषुप्ति में कुछ भी द्वैत धारणा है नहीं, यदि होती तो जाग्रत में आकर स्मरण होती है। यह देहभाव अहम् वृत्ति के उदय होने से ही उठती है। अहम् वृत्ति के पूर्व समस्त भेद का अभाव था। अतः तुम देश काल से परे नित्य अखंडात्मा हो।

सुषुप्ति से जागने के बाद तथा दृश्य जगत् को देखने से पूर्व जो एक जागृति की स्थिति है वह तुम्हारा निज स्वरूप है यह जानना आवश्यक है। तुम वही आत्मा हो। यह इन्द्रियों का विषय नहीं, इन्द्रियों द्वारा अनुभूति का विषय नहीं है। तुम वही हो। कौन किसका अनुभव करेगा ? तुम्हारा प्रयास बस इतना ही हो कि अन्य अनात्म चिंतनों, संकल्पों से मन को व्याकुल न होने दो।

प्रश्न-४३ : ज्ञान होने पर भी अज्ञानी की तरह कष्ट क्यों होता है ?

उत्तर : कष्ट का ज्ञान न होना यह आत्म ज्ञान का लक्षण नहीं है। कष्ट तो डाक्टर द्वारा आप्रेशन करने के समय पर भी नहीं होता तो क्या उस अवस्था को ज्ञान कहा जा सकेगा ? कष्ट से अनभिज्ञ रहना ज्ञान नहीं हो सकता। विचारो ! कष्ट किसे होता है ? दृश्य रूप कष्ट को जिसने जाना वह आत्मा दृश्य शरीर एवं उससे होने वाले मानसिक कष्ट से सर्वथा पृथक् साक्षी मात्र है और वही तुम हो। समस्त पीड़ाएँ केवल देह में अहं बुद्धि कर होती है। देह चेतना के अभाव में यह नहीं होती है। मन को देह का भाव न रहे तो सुख-दुःखी, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी का भी भाव न रहेगा।

प्रश्न-४४ : मुझे मुक्ति कब मिलेगी ?

उत्तर : मुक्ति, आत्मा, आनन्द, एकान्तादि एक आत्मा के ही पर्याय नाम है । आत्मा, मुक्ति अभी यहाँ ही विद्यमान है । जो यह कहता है कि मैं इसका अनुभव नहीं करता । वह भी स्वयं आत्मा होने से ही ऐसा कह रहा है कि मैं आत्मा का अनुभव नहीं करता हूँ । अनात्मा द्वारा ऐसा निर्णय सम्भव नहीं है । वास्तविकता यह है कि कोई बन्धन नहीं है यहाँ केवल मुक्ति है । साधन द्वारा भविष्य में प्राप्त होने वाली संसारी वस्तु जैसी अपना स्वरूप मुक्ति नहीं है । मिथ्या का परित्याग एवं सत्य आत्मा रूप में रमना ही मुक्ति है । मोक्ष नाम का कोई पदार्थ बाहर नहीं है जिसे खोजा जा सके । मोक्ष अन्तस्थ है । मोक्ष आत्मा है, मोक्ष तुम स्वयं हो ।

मन चंचल हो तो एकान्त जंगल में भी बाजार जैसा बन जावेगा । यदि मन शान्त है तो बाजार में भी एकान्त जंगल हो जावेगा । आंख मूंदने से क्या प्रयोजन ? मन को मौन होना है । मन चक्षु के बन्द होते ही जगत् शून्य हो जाता है ।

सुख-दु:ख पूर्वकृत कर्म का परिणाम है । वर्तमान कर्म का नहीं । उसे धैर्य सहित आते-जाते देखते रहना चाहिये ।

प्रश्न-४५ : मिथ्या मैं व सत्य मैं में क्या भेद है ?

उत्तर सत्य: मैं शाश्वत असीमित आकाशवत् है तथा अहंकार रूप मिथ्या मैं उस आकाश में चमकते तारे के तुल्य है । अथवा सत्य मैं समुद्रवत् है एवं मिथ्या मैं उसमें एक बुलबुला मात्र है जिसे जीव कहते हैं । बुलबुला भी जल है । अथवा सत्यात्मा जल है एवं जीवात्मा बर्फ रूप है । जब मिथ्या जीव अहंकार पिघलेगा तब वह ब्रह्म रूप जल ही अनुभव करेगा । जीव अपने इस सहज सत्य स्वरूप से अनभिग्य होने के कारण उसे

उसके सत्य स्वरूप का बोध कराने हेतु ही इतने शास्त्रों की रचना की गई है । असख्यों मार्गों की रचनाकी गई है । कर्म, भक्ति, कुण्डलनी योग, अष्टांग योग, संन्यास आदि । सबका उद्देश्य तो केवल एक आत्मा को जानना है । वह आत्मा बिना साधन के अभी भी तुम्हे मैं रूप से प्राप्त है ।

सुषुप्ति से जागने से लेकर स्वप्न समाप्ति तक जो बारम्बार बदलने वाला मैं है वह नकली है एवं सुषुप्ति अवस्था में जो मैं है वही असली निरूपाधिक मैं है, वही तुम हो ।

लोगों की रुची सहज नित्य प्राप्त वस्तु में नहीं है बल्कि विस्तार सहित, आकर्षक तथा जटिल प्रक्रियाओं द्वारा प्राप्त करने में है । इसीलिए इतने धर्मों की सृष्टि होगई । जिनमें से प्रत्येक अधिक जटिल है । तथा प्रत्येक धर्म के, प्रत्येक ग्रन्थों सिद्धान्तों, मतों के अपने-अपने अनुयायी तथा विरोधी भी है ।

एक अशिक्षित व्यक्ति जप तथा आराधना से सन्तुष्ट है, ज्ञानी तो सदा सन्तुष्ट ही रहता है । सारी कठिनाई तो पुस्तको के जो कीड़े बन गये हैं उन विद्वान् पंडितों की है । जो शब्द जाल रूप जंगल में भटक गये हैं एवं कष्ट पा रहे है ।

प्रश्न-४६ : सारे शास्त्रों का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर : समस्त शास्त्रों का प्रयोजन केवल इतना ही है कि मनुष्य अपने मूल स्रोत की और वापस लोटे । उसे शास्त्र अभ्यास से किसी नवीन वस्तु को प्राप्त नहीं कराना है । जैसे नक्शे को देख किसी नगर की यात्रा पर यात्री निकल पड़ता है एवं कालान्तर में वहाँ पहुँच जाता है । इसी प्रकार मोक्षार्थी को ग्रन्थ पढ़कर, रटकर, आत्मा तक पहुँचना नहीं है । आत्मा दूर नहीं है, अन्य नहीं है । आत्मा अभी एवं यहाँ है वह तुम हो । शास्त्र अभ्यास तो केवल भ्रान्तियों से, भूल धारणाओं से छूटने हेतु ही

करना है । इसकी अपेक्षा साधक नाना जप, तपादि कष्ट प्रद साधना कर रहस्य मय वस्तुओं को प्राप्त करने, सिद्धि प्राप्त करने का प्रयास करता है । क्योंकि उस अज्ञानी के मन में यह भ्रान्त धारणा है कि सुख कहीं अन्यत्र है । जीसे कष्ट प्रद साधनों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है ।

शास्त्र ज्ञानियों के लिये नहीं है । क्योंकि उन्हें आत्मा का साक्षात् मैं रूप से सब समय हो रहा है । उन्हें कुछ पाना अब कर्तव्य रूप नहीं है । जो पाना, जानना शेष था वह आत्मा वह स्वयं ही है । शास्त्र तो अज्ञानियों के लिये होते हैं । जैसे औषध सेवन रोगियों के लिये अनिवार्य होती है किन्तु स्वस्थ व्यक्ति के लिये नहीं । उसी तरह शास्त्र मुमुक्षुओं को विधि निषेधात्मक उपदेश करते हैं किन्तु ज्ञानियों को नहीं करते हैं ।

कहते हैं वृत्ति प्रभाकर ग्रन्थ रचिता ने प्रथम ३,५०,००० पुस्तकों का अध्ययन किया । इसका क्या उपयोग है ? ''विचार सागर'' तर्क तथा तकनीकी शब्दों का भंडार है । क्या भारी कठिन ग्रन्थ किसी वास्तविक उपयोग के है ? मुर्ख व्यक्ति उन्हें केवल रट,पढ़कर ज्ञानी सतों से प्रश्न कर अपनी विद्वता प्रदर्शन करने के लिये ही होते हैं । जो शास्त्र जाल में फंस चुके हैं उन्हें संत नानक, कबीरादि की सत्य सरल बाते रोचक नहीं लगती ।

वह निश्चित ही भाग्यवान व्यक्ति है जिसे आत्म तत्त्व सीधा ही समझ आगया है एवं वह तर्क, खण्डन-मण्डन के कूप में नहीं गिरा । 'मैं कौन हूँ' की खोज करना जीव का चरम लक्ष्य होना चाहिये ।

परमात्मा तो मन वाणी से परे हैं, फिर क्यों श्लोकों मन्त्रों को रटने में समय लगावे ? व्यर्थ शास्त्रों को पढ़ने में शक्ति नष्ट क्यों करे ?

प्रश्न-४७ : चन्द्र मार्ग एवं सूर्य मार्ग क्या है तथा इनमें सरल कौन है ?

उत्तर : रवीमार्ग ज्ञान मार्ग है । चन्द्र मार्ग योग है । ऐसा कहते है कि ब्रह्म बहो तर करोड़, बहतर लाख, दस हजार दो सो दस नाड़ियों को शुद्ध करने के उपरान्त सुषुम्ना में पहुँच कर मन सहस्रार तक जाता है जहाँ अमृत का झरना है ।

ये सब मानसिक कल्पनाएँ है । मनुष्य पहले से ही कल्पनाओं में घिरा हुआ है । अब योग के रूप में अन्य कल्पनाए और जुड़ जाती है । अपने कल्याण के लिये समस्त कल्पनाओं के जाल से आपने मन को मुक्ति दिलाकर उसे संकल्प-शून्य आत्म चैतन्य में स्थिर करना चाहिये । उस आत्मा तक फिर हम सीधे सरल ज्ञान मार्ग द्वारा ही क्यों न चले ? पहले से ही उपस्थित बोझ में अन्य नूतन भार क्यों बढ़ाये ?

जैसे प्राण वायु एक है जिससे सभी कार्य सम्पादित होते हैं । किन्तु दर्शन शास्त्री विद्यार्थी को पन्द्रह प्राण बतावेंगे फिर उनके नाम रटायेंगे उनके कार्य पृथक् पृथक् बतावेंगे यह सब क्यों ? केवल जटिलता कठिनता दिखाकर बोझा बढ़ाना मात्र है ।

प्रश्न-४८ : मनका मूल क्या है ?

उत्तर : यदि मन के उदय होने का मूल कारण खोजा जाये तो यह पता चलेगा कि वह उस सत्य से ही उदय हुआ है । जिसे आत्मा अथवा ब्रह्म कहते हैं । क्या लहरों की बिना पानी के प्रतीति हो सकती है ? मन को खोजने चलोगे तो मन लुप्त हो जावेगा । इसके लुप्त होने पर तुम ही अवशेष रहोगे । क्या लहरों के मूल को खोजने पर जल के अलावा कुछ प्राप्त हो पाता है ?

चेतना को देह के साथ एक मानना ही मन है तथा चेतना को चेतना ही जानना मनोलय, मनोनाश अथवा मनोलय है ।

प्रश्न-४९ : ध्यान द्वारा मन अखण्ड शान्ति प्राप्त कर सकेगा ?

उत्तर : ध्यान के द्वारा मन उतने काल के लिये शान्त हो जाता है, किन्तु यह पर्याप्त नहीं है । मन को ही विचार द्वारा नष्ट करना होगा अर्थात् आत्म सत्ता से भिन्न मन नाम की वस्तु ही नहीं है ऐसा विचार ही मन नाश है एवं इसी भाव में बिना कष्ट अखण्ड शान्ति है ।

कुछ व्यक्ति साधारण संकल्प लेकर समाधि में गये और दीर्घ काल के बाद पुनः उसी विचार में जाग्रत हुए पाये गये । क्योंकि ध्यान, समाधि द्वारा मन स्वरूप से नष्ट नहीं हुआ था ।

मन को नष्ट करने का सरल उपाय यही है कि उसे आत्मा से पृथक् किंचित् भी नहीं माने । इस क्षण भी मन नहीं है जबकि आप उसे चंचल कह रहे हैं। इस सत्य को जानलो कि जब लहरे प्रतीत हो रही है तब भी उन्हें जल ही जानो । व्यवहार काल में ही मन को असत रूप जानलो, सुषुप्ति या स्वप्न में यह विचार नहीं हो सकेगा । समस्त कार्य प्रकृति अनुसार स्वतः ही होते रहते हैं । यह जानलो कि इनका प्रेरक मन यथार्थ नहीं है । बल्कि काल्पनिक है और जो आत्मा से उत्पन्न हुआ है । इसी प्रकार मन नष्ट किया जाता है ।

प्रश्न-५० : मन सदैव चंचल रहता है, इसे कैसे वश करे ?

उत्तर : मन का स्वभाव ही चंचल होना है, अग्नि उष्ण वत् । तुम मन नहीं हो । मन उदय होता है जाग्रत में एवं अन्त हो जाता है स्वप्नान्त में । यह अस्थायी तथा अनित्य एक देशीय है । जबकि तुम नित्य हो । आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है । आत्मा में अधिष्ठित होना ही आवश्यक है । मन की चिंता त्याग दो । यदि इसके मूल स्रोत को खोज लोगे तो यह स्पष्ट हो जावेगा कि मन लहरों की तरह सत्ता शून्य प्रतीति मात्र है । आत्मा ही

शेष रहेगी ।

प्रश्न-५१ : क्या मन को वश में करने की जरूरत नहीं ?

उत्तर : आत्मा की अनुभूति करने के बाद मन को नियन्त्रण करने, नष्ट करने, शान्त करने को मन ही नहीं रहेगा । मनके नष्ट होने के बाद आत्मा प्रकाशित होगा ऐसा नहीं समझें । जिसने मैं आत्मा हूँ इस प्रकार साक्षात्कार कर लिया है उसका मन सक्रिय हो या निष्क्रिय उसके लिये आत्मा ही रहता है । चूँकि मन, देह, प्राण, इन्द्रिय आत्मा से पृथक् नहीं है । यह देह संघात् आत्मा में ही उदय होते हैं और आत्मा में ही अस्त होते हैं, जल से बर्फ की तरह । आत्मा से पृथक् उनकी कोई सत्ता नहीं है । केवल अखण्ड सर्व रूप आत्मा का चिन्तन करो अन्य कुछ भी 'यह-वह' न देखो । आत्मा का बोध रखो जो सार एवं सत्य है, इस मनके मिथ्या विचारों की चिंता क्यों ? क्या लहरे जल में क्षोभ उत्पन्न कर पाती है ? बस इसी तरह मिथ्या मन आत्मा को प्रभावित नहीं कर पायेगा ।

जैसे सूर्य का प्रकाश चन्द्रमा ग्रहण करता है फिर वह रात्रि को पृथ्वी वासियों को प्रकाशित करता है । जब चन्द्रमा पर सूर्य का प्रतिविम्ब न हो तो अन्धकार रूप चन्द्रमा पृथ्वी की तरह अन्धकार रूप हो जाता है तब वह पृथ्वी को प्रकाशित नहीं कर पाता है । इसी प्रकार यह सूर्यरूप आत्मा का प्रकाश चन्द्रमा रूप मस्तिष्क पर पड़ता है जिसे मन कहते हैं । फिर मन के द्वारा ही जगत् दिखता है । अर्थात् आत्मा से प्रतिविम्बित मन के प्रकाश द्वारा ही जगत् दिखता है । सुषुप्ति, समाधि में मन आत्मा में निमग्न रहने के कारण बाह्य जगत् को प्रकाशित नहीं कर पाता है । जब मन संसार की ओर होता है तभी यह विषय जगत् को प्रकाशित कर पाता है । यदि मन को ध्यान, समाधि आदि साधनों द्वारा अन्तर्मुखी कर लिया जाय तो जगत् का लोप हो जाता है । तब केवल साक्षी आत्मा ही अवशेष

रहता है । यह हम सब के रोज अनुभव की बात है । मन उत्पन्न होता है, हम उसे देखते हैं मन के चंचलता, शान्तता, शोक, मोह, सुखी-दु:खी अवस्था को हम जानते हैं । हमारे बिना उसकी सत्ता नहीं । उसके बिना भी हम हैं । मन मुझ आत्म समुद्र की लहर हैं । मन के अधिष्ठान आत्मा का ज्ञान होने के बाद मन नाम की कोई पृथक् सत्ता नहीं रहजाती । मन है ही नहीं । आत्म निष्ठ ज्ञानी पुरुषों को मन की कोई चिंता नहीं रहती । मन के साक्षी को जान लिया जावे कि वह कौन है तब मन की चिंता समाप्त हो जावेगी । मन का प्रकाशक आत्मा मैं हूँ यह विचार जाग्रत होने पर मन प्रभावित नहीं कर सकेगा । मन दृश्य है तुम उससे अलग उसकी दशा को जानने वाले हो । तुम मन नहीं हो ।

मन की खोज करने से कि यह क्या है ? सकंल्प समूह पीछे चले जावेंगे । तथा साधक जान लेगा कि वे आत्मा से उदय होते हैं । इन्ही संकल्पों के समूह को हम मन कहते हैं । यदि व्यक्ति को यह अनुभूति हो जाय कि संकल्प आत्मा से उदय होते हैं और अपने मूल स्रोत में रहते हैं तो मन लुप्त हो जावेगा । जब तक मन के मूल स्रोत का विचार नहीं किया जावेगा और केवल ध्यान समाधि द्वारा मनोनाश का प्रयत्न चलता रहेगा, तब तक यह मन तुम्हारे वास्तविक स्वरूप के दर्शन में बाधक बना रहेगा, अहंकार तथा मन एक ही है । अहंकार मूल सकंल्प है जिसमें अन्य समस्त सकंल्प उत्पन्न होते हैं ।

मनको देखने से अथवा मन को आत्म रूप से जानने से मन का अभाव सिद्ध हो जाता है । मनोनाश के लिये ध्यान-समाधि प्राणायाम एक अन्तिम साधन नहीं । मनोनाश के लिये केवल आत्म विचार ही पर्याप्त है ।

प्राय: साधक प्रश्न किया करते हैं कि मन पर नियन्त्रण किस प्रकार करें ? मैं उनसे कहा करता हूँ ‘‘मुझे मन दिखाओ मैं उसे वश में

करा दूगाँ तब तुम्हें मन को नियन्त्रण करने का सरल साधन बतला दिया जायगा ।''

मन संकल्पों का समूह मात्र है । इसका शमन उसी मन के संकल्प से किस प्रकार हो सकता है ? मन रोकने के नये-नये साधनों द्वारा मन का विस्तार ही होगा । चंचलता विक्षेप ही बढ़ेंगे आशय यह है कि मन से मन को मारने का प्रयास करना ही निरर्थक है । योग चित्त वृत्ति निरोध पर जोर देता है किन्तु वशिष्ठ मुनि राम को कहते हैं कि मेरी ओर से आत्म विचार ही एक मात्र मन: शान्ति का अन्तिम उपाय है ।

चित्त वृत्ति निरोध तो सुषुप्ति, प्राणायाम, समाधि अथवा आहार त्याग से हो जाता है । किन्तु मन शांत करने ज्योंहि साधनों का त्याग करेंगे त्योंहि उन-उन विचारों, चंचलताओं का चित्त में पुनरागमन हो जाता है । तब ऐसे कष्ट प्रद साधनों द्वारा क्षणिक मनो निरोध से लाभ क्या ? अत: मन का निरोध उपादेय नहीं क्योंकि इस प्रकार वह स्थायी-रूप से शान्त नहीं होता है ।

मन की स्थायी शान्ति के लिये दु:ख के कारण की खोज करना होगी । दु:ख का कारण पदार्थों की इच्छा । यदि पदार्थों की इच्छाओं का अभाव हो जावे तो दु:खों का सम्पूर्ण नाश तत्काल हो जाता है । पर यह पदार्थों की इच्छा का लोप किस प्रकार हो ? पदार्थ मन की सृष्टि है उनका वास्तविक अस्तित्त्व ही नहीं है । जब कोई द्वैत ही नहीं है तब तुम्हारी शान्ति को भंग करने के लिये कोई विचार ही उत्पन्न नहीं होंगे । यही आत्मोपल्ब्धी है । आत्मा नित्य है तथा वह तुम ही हो । मन का मूल अहं भाव है एवं अहम् भाव का मूल शुद्ध आत्मा अहम् चेतना ही है ।

तुम्हें ज्ञात है कि मन तुम नहीं हो । वासना है मन के अन्तर्गत है । यह ज्ञान वासना नियन्त्रण करने में सहायक होता है ।

मन को आत्मा से पृथक् मानना ही माया है। मन का अस्तित्त्व सत्य आत्मा के ही अन्तर्गत है, सत्य से पृथक् नहीं यही ज्ञान माया की निवृत्ति है।

तुम मन नहीं हो। तुम मनोदशा को समझकर जानकर ही मेरे पास प्रश्न कर रहे हो कि मन को वश में कैसे करें ? यदि मन होगा तो ही उस पर नियन्त्रण होगा। खोज से इस सत्य को जान लिया कि मन नहीं है, मैं साक्षी आत्मा ही हूँ तुम मन नहीं मन से अतीत हो। मन के साक्षी हो। यह साक्षी होने का ज्ञान भी आभास का कार्य है। मन आभास है। ऐसा ज्ञान मन से ही साध्य है।

प्रश्न-५२ : क्या आत्मा साक्षी मात्र नहीं है ?

उत्तर : 'साक्षी' शब्द की सार्थकता तब है जब दर्शन हेतु कोई साक्ष्य वस्तु सामने विद्यमान हो, तो यह द्वैत की स्थिति हुई। सत्य द्वैत से रहित अद्वैत है। 'साक्षी चेता केवलो निगुर्णश्च' का आशय 'सन्निधि' मानना चाहिये। जिसके अभाव में कुछ भी सम्भव नहीं है। दैनिक जीवन व्यवहार के लिये सूर्य कितना आवश्यक है किन्तु सूर्य को उन कर्मों का कर्ता नहीं माना जाता। सूर्य के बिना कोई कार्य उत्पत्ति रूप नहीं हो सकता। फिर भी सूर्य उनका कर्ता नहीं साक्षी है आत्मा के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार जानो कि वह साक्षी है। तुम जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति, समाधि मुर्च्छा आदि के साक्षी हो - वास्तव में, ये अवस्थाएं तुम्हारे समक्ष ही होती है।

प्रश्न-५३ : तुरीय क्या है ?

उत्तर : केवल तीन अवस्था जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति है तुरीय कोई पृथक् से चतुर्थावस्था नहीं है। यह तुरीय इन तीनों का आधार है। किन्तु लोग इसको सहज में समझ नहीं पाते हैं, इस कारण इसे चतुर्थ

अवस्था बतलाते हैं। वस्तुत: यह किसी अवस्था से पृथक् नहीं। तुरीय ही जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति रूप है। यही तुम्हारा वास्तविक अस्तित्त्व है। इसी आत्मा पर तीनों अवस्था जल पर लहर वत् उदय होकर लीन हो जाती है। अत: उदय-अस्त धर्मों वृत्ति, अवस्था मिथ्या है। आत्मा अभी और यहाँ है। केवल यही सत्य है और वह तुम ही हो। तुरीय केवल आत्मा का दूसरा नाम है।

प्रश्न-५४ : ध्यान किसका करें ?

उत्तर : 'मैं कौन हूँ' इसीका अनुसन्धान आवश्यक है। गहन निद्रा तथा जाग्रति में जिसका अस्तित्त्व है वह एक ही है। ध्यान से पहले ध्याता कौन है ? पहले यह मन में प्रश्न करो। बस ध्याता बने रहो। ध्यान की आवश्यकता नहीं। क्योंकि ध्यान देखी गई अन्य वस्तु का ही हो सकता है। ध्याता का ध्यान नहीं हो सकता। जो ध्येय होगा वह ध्याता से भिन्न परिच्छिन्न वस्तु होने से नाशवान ही होगा।

तुम्हारा अपना स्वभाव ही ध्यान अर्थात् समाधि है। ध्यान वास्तविक में आत्मनिष्ठा है। आत्म निष्ठा तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। बिना ध्यान के तुम आत्मा हो। अत: आत्मा होकर रहो अन्यत्र होने की इच्छा मत करो।

ध्यान का अर्थ है एक सकंल्प पर दृढ़ होना। वह एक संकल्प है अन्य संकल्पों को दूर रखता है मन की चंचलता उसकी दुर्बलता की सूचक है। ध्यान करने से मन एक लक्ष्य पर सबल हो कार्य करता है। ध्यान क्या है ? जाग्रत रहकर स्रोत में विलीन होना। तब मृत्यु, मुर्च्छा का भय चला जायगा।

ध्यान ही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है चुँकि तुम्हें दूसरे संकल्प

विचलित करते हैं, इसलिए तुम उसे ध्यान कहते हो। जब ये दुसरे विचार नष्ट हो जाते हैं तब तुम अकेले रहते हो। अर्थात् संकल्प शून्य होकर ध्यान की अवस्था में रहते हो, और यही तुम्हारा निज स्वरूप है। जिसे तुम अब अन्य विचरों से दूर रहकर प्राप्त करना चाहते हो। अन्य संकल्पों से अपने को दूर रखना ही ध्यान कह लाता है।

प्रश्न-५५ : मैं ध्यान करता हूँ किन्तु सफल नहीं होता ? मुझे क्या करना चाहिये ?

उत्तर : तुम कहते हो ''मैं ध्यान करता हूँ परन्तु सफल नहीं होता हूँ। इस तुम्हारे कथन से प्रमाणित होता है कि तुम ध्यान की इच्छा, चेष्टा करने वाले चेतन आत्मा हो, जड़ शरीर नहीं। तब असफल क्यों मानते हो ? क्या आत्मा दो हैं कि एक आत्मा दूसरी आत्मा का ध्यान करेगा। इस समय असफलता को प्राप्त होने वाली आत्मा उन दो में से कौनसी एक है ? दो आत्माएँ तो हो ही नहीं सकती। केवल एक आत्मा हैं। वह तुम हो। तुम्हें अपने ध्यान करने की आवश्यकता नहीं। ध्यान का प्रयास ही क्यों हो ? आत्म रूप होने से मनुष्य सर्वदा साक्षात्कार युक्त है। केवल मैं चंचल हूँ, मैं बद्ध हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं मन हूँ इस अनात्म विचारों से ही मुक्त होना है।

प्रश्न-५६ : योग एवं ज्ञान में कौनसा मार्ग श्रेष्ठ है ?

उत्तर : ज्ञानोपलब्धि के बाद योग साधन की आवश्यकता नहीं। योग क्या वस्तु है ? योग का अर्थ युति जोड़ना। जब वियोग हो तभी योग सम्भव है। व्यक्ति वर्तमान वियोग की भ्रान्ति से ग्रस्त है। इस भ्रान्ति का निवारण अपेक्षित है। इस भ्रान्ति निवृत्ति के मार्ग को ही योग की संज्ञा दी गई है यथा कर्म योग, भक्ति योग, ज्ञान योग, अष्टांग योग, कुण्डलनी योगादि कहते हैं।

यह व्यक्ति के पूर्व जन्मों के संस्कारों पर निर्भर करता है कि उसे कौनसा साधन सरल लगता है। एक व्यक्ति के लिये योग सरल है तो दूसरे व्यक्ति को ज्ञान सरल है। इस सम्बन्ध में किसी को भी अन्तिम रूप से नहीं कहा जासकता है।

ज्ञान के अभ्यास से साधक सीधे आत्म केन्द्र में स्थित हो जाता है। योग मार्ग मन को एकाग्र करने के अलावा और क्या है ? अभ्यास किसी भी साधन का करो या न करो तुम अपनी सहज वस्तु आत्मा में ही स्थित हो। अभ्यास किसी सत्य वस्तु को पाने के लिये नहीं है अन्य संस्कारों को नष्ट करने के लिये है ! आत्म विचार ही पर्याप्त है। आत्मा सत्य होने से वह कभी अप्राप्त नहीं है।

अन्य साधन उन साधकों के लिये है जो आत्मा को मैं रूप से स्वीकार करने में समर्थ नहीं है। अहं ब्रह्मास्मि, शिवोऽहम, सोऽहम् के जप या निष्ठा वृत्ति के लिये भी तो किसी कर्ता की आवश्यकता है। वह कौन है ? वह "मैं" आत्मा हूँ। इसके लिये सद्गुरु द्वारा स्वरूप निष्ठा को प्राप्त होना ही साधन है। सभी साधन साक्षात् आत्मा के अनुभव में होने वाली बाधाओं को हटाने के लिये ही है। आत्म निष्ठा जाग्रत हो जाने के पश्चात हठयोग के कठिन साधनों को करने की क्या जरूरत है ? कुछ भी नहीं।

अडिग रूप से बैठने का नाम ही आसन है। यहाँ आत्म अडिग रूप से है अन्य कोई अचल नहीं रह सकता। यह अपना स्वरूप ही निश्चल आसन है।

प्रश्न-५७ : सद्गुरु को क्या दक्षिणा देना चाहिये ?

उत्तर : तुम सदैव शाश्वत, निरन्तर, परमानन्द आत्मवान होकर

रहो । उससे हट कभी अन्य मार्ग, अन्य साधन, अन्य निष्ठा न बनाना ही सद्गुरु की सच्ची सेवा, एवं भेंट, दक्षिणा है ।

सद्गुरु यदि श्रोताओं से भेंट स्वीकार करते रहेंगे तो उन्हें उन प्रार्थनीय जिज्ञासु के आगे झुकना पड़ेगा । वह सत्य को स्पष्ट नहीं कह सकेंगे । संत को भेंट देना मछली को मांस खिलाने के समान है । विचारों ! मछली मार, बकरा मार, मुर्गीमार, गो हत्यारा आदि लोग मछली, मुर्गी, गाय, बकरा को भोजन कराने के इच्छुक होते है या अपना भोजन बनाने हेतु उन्हें वे खिलातें है ? इसी प्रकार अज्ञानी लोग उनसे किसी प्रकार सांसारिक वस्तु की चाह लेकर ही भेंट रखते हैं ।

प्रश्न-५८ : सिद्धियाँ जब बन्धन रूप है तब उनकी इच्छा क्यों की जाती है ?

उत्तर : जिनकी देह दृष्टि है एवं जगत् के प्रति सुख एवं सत्य दृष्टि है वे ही सिद्धि की कामना करते हैं । आत्मज्ञानी अन्त:करण को मिथ्या निश्चय कर लेने के कारण अन्त:करण में प्राप्त सिद्धियो को भी मिथ्या ही जान उनके पाने का संकल्प भी नहीं करता । सिद्धि का मजा प्रदर्शन में हैं जैसे, जादु, सर्कस खेल, नाटकादि प्रदर्शन के लिये द्वैत भाव जरूरी है । जहाँ द्वैत भाव है वहाँ मोक्ष कहाँ ?

सिद्धियों के इच्छुक, चमत्कारों के इच्छुक ज्ञान मात्र में सन्तुष्ट नहीं होते । वे कुछ और होना चाहते हैं वर्तमान से भिन्न जो भी प्राप्त होगा वह सत्य नहीं होगा । सत्य आज यहाँ और तुम्हारे रूप में विद्यमान है । किन्तु सिद्धि इच्छुक व्यक्ति ज्ञान एवं परमानन्द की उपेक्षाकर देता है । इस कारण कई साधक राज मार्ग को छोड़कर सिद्धि रूप पगदंडी के सकुंचित मार्ग में भटक जाते हैं । जिससे वे पथ भ्रष्ट हो जाते हैं ।

ज्ञानी सिद्धियों के लिये किंचित् विचार तक भी नहीं करते हैं । करोड़ों कर्म छोड़कर साधकों को प्रथम ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । फिर सिद्धिकी जरूरत मालुम पड़े तो साधन करे ।

वस्तु सिद्धि विचारेण न कर्म कोटिभि:

-शंकराचार्य

जब सीमित वस्तुओं से ही मानव इतना दु:खी है तब उन वस्तुओं की और अधिक वृद्धि होने से तो उनके क्लेशों का अनुपात बढ़ना निश्चित ही है । सिद्धियों की शक्ति किसी मनुष्य को सुखी नहीं कर सकती । वे तो उसे ओर भी दु:खी अधिक करेंगी ।

प्रश्न-५९ : क्या सिद्धियों द्वारा शरीर को अदृश्य कर सकते हैं ?

उत्तर : हाँ आत्म सिद्धि द्वारा शरीर का अस्तित्त्व ही नहीं रह जाता है । हमारा वास्तविक स्वरूप ही अशरीरी है, निराकार है । क्या तुम आत्मा नहीं हो ? जो इस परम सत्य आत्म वस्तु में सन्तुष्ट नहीं हो, वह अज्ञानी ही शरीर को गायब कर देने की सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं । शरीर का भान न होना या लोप कर देने से मुक्ति नहीं होती । यदि ऐसा होता तो सुषुप्ति एवं आप्रेशन के समय जब शरीर का भान नहीं रहता सभी मुक्त हो जाते । तुम देह नहीं हो इस विचार से देह लोप हो या किसी सिद्धि से देह लोप हो इस में क्या अन्तर पड़ता है ? देह भाव का नाश ही मुक्ति है एवं आत्मा का देह से एकत्व ही बन्धन है ।

प्रश्न-६० : क्या आत्म साक्षात्कार के साथ सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती है ?

उत्तर : आत्मा नित्य प्राप्त सब प्राणियों का स्वरूप है । आत्म प्राप्ति हेतु किसी साधन, सामग्री मंत्रादि की जरूरत नहीं होती । जबकि

साधन द्वारा प्राप्त सिद्धि अनित्य वस्तु है । सिद्धियों के आकांक्षी विवेक हीन साधक को, ध्यान अभ्यास द्वारा मन को निरन्तर सतर्क रखना होता है । जबकि आत्म-साक्षात्कार मनोनाश होने पर होता है । सिद्धियाँ व्यक्त करने की प्रदर्शन करने की इच्छा तभी होती है जब अहंकार विद्यमान होता है । आत्मा अहंकार से रहित है । तथा आत्म साक्षात्कार अहंकार शून्य होने पर ही होता है । आत्म प्राप्ति के बाद किसी प्रकार की सिद्धि समाधि की इच्छा ही नहीं होती है ।

आत्म साक्षात्कार के साथ सिद्धियों की उत्पत्ति होना अथवा न होना दोनों ही सम्भव है । आत्म साक्षात्कार के पूर्व यदि साधक ने सिद्धियों की इच्छा की होगी तो आत्म साक्षात्कार के पश्चात् सिद्धि प्राप्त होना सम्भव है । तथा स्वेच्छा बिना अनायास यदि किसी ज्ञानी पुरुष को सिद्धियां प्राप्त हो जाती है तो वह उसे प्रदर्शित भी नहीं करता है ।

प्रश्न-६१ : योगासन करने के लिये बाघ हरिण आदि को मार उनके चर्म पर बैठना उचित है ?

उत्तर : मन को ही बाघ अथवा हरिण मानना उचित है । इन्हें ही अभ्यास एवं वैराग्य से वश में करना है । ज्ञान मार्ग में बाघ एवं मृग चर्म कोई महत्व नहीं है । अज्ञानियों के लिये ही इनका महत्व एवं उपयोग होता है । वे ही हत्या से प्राप्त चर्म आसन का प्रयोग कर पाप कर्म के भागी बनते हैं ।

अपने आत्म स्वरूप को न जान अपने को देह मानने वाले सभी आत्म हत्यारे है । जबकि '*अहिंसा परमोधर्म*' यह वेद मत है । अहिंसा का अर्थ है हत्या न हो । ऐसी वस्तु सबकी आत्मा है । अतः अपने को आत्मा जानना ही परम धर्म है ।

प्रश्न-६२ : "मैं कौन हूँ" इसकी अनुभूति कैसे प्राप्त हो ?

उत्तर : यह पंच भूत से बना शरीर एवं इससे होने वाले २५ तत्त्व मैं नहीं हूँ, प्रथम ऐसा निश्चय करो । फिर सूक्ष्म शरीर के मन सहित पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण यह १६ तत्त्व भी मैं नहीं हूँ। इसके भी आगे जाने से यह प्रश्न उठेगा कि 'ये संकल्प कहाँ से उदय हो रहे है' ? ये संकल्प बुद्धि से उत्पन्न होते हैं । फिर इस बुद्धिका प्रकाशक साक्षी कौन है ? इस सूक्ष्म परीक्षण से यह निश्चय होगा कि सब दृश्यों के अन्त में जो प्रकाशक विद्यमान है वह साक्षी आत्मा मैं हूँ। यह व्यक्तित्व ही अहम् है जिसे लोग "मैं" कहते हैं । विज्ञान मय कोष बुद्धि इस वास्तविक मैं का केवल आवरण है। बुद्धि स्वयं मैं नहीं है। मन-बुद्धि का साक्षी आत्मा ही "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रक्रिया से देह भाव नष्ट हो जाता है । देह भाव से युक्त होना ही द्वैत है एवं देह भाव से रहित होना ही अद्वैत है ।

प्रश्न-६३ : सत्य मैं व असत मैं में क्या अन्तर है ?

उत्तर : नाम, पद, सम्बन्ध, विशेण तथा वृत्तियाँ असत "मैं" की हैं, सत्य "मैं" की नहीं ।

नित्य मैं असीमित समुद्र है एवं अहंकार, "मैं-भाव" इस पर एक बुलबुला है जिसे जीव कहते हैं । यह अनुभूति कि मैं देह हूँ भूल है । मैं की इस मिथ्या भावना को हटाना होगा। वास्तविक मैं सदैव ही है। यह यहीं और अभी ही तुम्हारे अस्तित्त्व रूपमें साक्षात् है । मैं देह हूँ यह मिथ्या ज्ञान समस्त अनिष्टों की जड़ है ।

प्रश्न-६४ : ज्ञानी व अज्ञानी दोनों ही समान अपने को देह कहते है फिर अन्तर क्या है ?

उत्तर : अज्ञानी 'मैं' को देह तक सीमित देखता है जबकि ज्ञानी के

'मैं' में देह संघात् एवं उनकी क्रियाएँ कुछ भी नहीं है। अज्ञानी 'मैं' को वह वस्तु मान लेता है जो 'मैं' नहीं हूँ। ज्ञानी को अपने आत्मा से भिन्न नाम रूप संसार कुछ भी सत्ता रूप से पृथक् भान नहीं होता है। इसलिये '*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*' इस ज्ञान दृष्टि से ज्ञानी देह को भी अपने से पृथक् नहीं मानता है।

वास्तविक 'मैं' मौन है। मैं, यह सब एक ब्रह्म हुँ ऐसे अखण्ड सत्ता का साधक को मैं यह हूँ, मैं यह नहीं हूँ का विचार नहीं करना चाहिये। यह अथवा वह कहना मिथ्या है। यह सब सीमाएं ही है। केवल 'मैं हूँ' अर्थात् केवल अस्तित्त्व ही सत्य है।

सुषुप्ति में 'मैं' का बोध नहीं होता। जाग्रत में देह सहित सर्व जगत् का 'मैं-मेरा' रूप से बोध होता है। ऐसा सम्मिलित 'मैं' अहंकार अथवा अहम् वृत्ति है। जब अहम् केवल आत्मा को ही निर्देशित करता है तब यह अहम् सत्य स्फूरण है। तब यह आत्मा है और जब अहम् अन्य का स्फूरण करता है तब यह मिथ्या है।

प्रश्न-६५ : ''मैं कर्ता-भोक्ता हूँ ऐसा विचार अज्ञान भ्रान्ति क्यों कहा जाता है ?

उत्तर : वास्तविक 'मैं' समस्त दृश्य शरीर कर्म एवं फल भोग से परे है। फिर कर्म का कर्ता कौन है ? कर्म का कर्ता वासना वाला मन है। वासना अहंकार से उदय होती है। अहंकार का मूल आत्मा है, जिस पर यह मन वासना कर्म एवं फल भोक्ता निर्भर है। इस मन की स्वतन्त्र सत्ता नहीं तब जीव का ऐसा अहंकार करना शोभनीय नहीं कि मैं कर्म का कर्ता हूँ। मन कर्ता, आत्मा के अस्तित्त्व से ही होता है। आत्मा की समक्षता में, साक्षीत्वता में ही कर्म होते हैं। आत्म ज्ञान की प्राप्ति में कर्म बाधा भी नहीं डालते। कर्ता पने का मिथ्या देहाभिमान ही इसमें बाधक है

। इस मिथ्या देहाभिमान एवं कर्तृत्वाभिमान से छुटकारा पाना ही जीव का वास्तविक लक्ष्य है ।

प्रश्न-६६ : जिसे व्यवहार में आत्म भाव, साक्षी भाव नहीं रहता है वह क्या करे ?

उत्तर : मन की उथल-पुथल भी कल्पित है और उनको दूर करने का ध्यान, प्राणायामादि साधन भी कल्पित है । यह सब अन्त:करण उपाधि का ही काम है । यह सब इन उपधियों में ही होता है । उपाधियाँ अपना-अपना काम अवश्य करेंगी, रुक नहीं सकती । यह विक्षेप-दु:ख द्वन्द्व सब मन उपाधि का है एवं उपाधि में ही है । तुम प्रकाशक साक्षी आत्मा में नहीं । तुम तो मन की इन उथल-पुथल, विक्षेप, दु:खादि के प्रकाशक कुटस्थ एकरस आत्मा हो ।

प्रश्न-६७ : वास्तविक पूजा क्या है ?

उत्तर : अपने इष्ट में अपने को खो देना, एक करदेना, मिला देना ही प्रकृत पूजा है । अपने अहंभाव को, अपने व्यक्तित्व को अपने भगवान में मिला देना एवं अपने को वही भगवान रूप जानना ही ज्ञानियों, भक्तो की पूजा होती है । अज्ञानी अपने से पृथक् पत्थर, काष्ठ, मिट्टी या धातु की बनी मूर्त्ति के सेवन को ही पूजा मानते हैं । ज्ञानी प्रत्येक प्राणी को भगवान का रुप जान तन, धन और मन से सेवा करना ही सच्ची पूजा मानता है ।

प्रश्न-६८ : नमस्कार क्या है ?

उत्तर : नमस्कार का अर्थ है ''अहंकारो का शमन ।'' शमन क्या है ? अपने उद्गम के मूल में विलीन होना जैसे नदियों का समुद्र मे विलीन होना उनके गंगा, यमुना आदि नाम रूपों का शमन है ।

परमात्मा को ऊपरी तोर से घूटने टेक कर उपासना करने, तथा

साष्टांग दण्डवत प्रणाम कर घोखा नहीं दिया जा सकता । परमात्मा या गुरु तो यह देखता है कि उसका व्यक्तित्व, अहंकार देहाभिमान है या नहीं ।

साधक सोचना चाहिये कि सद्गुरु ने अथवा ईश्वर ने मेरी प्रार्थना, नमस्कार स्वीकार कर लिया है पुराने पाप क्षमा होगये है, अब और पाप नहीं करूंगा । यदि कोई ऐसा न सोचे और पापमय जीवन पूर्ववत चलाता रहे तो ऐसे लोगों को गुरु सम्मुख जाकर नमस्कार भेंट करने का क्या मुल्य ? सब व्यर्थ अपने आप से घोखा है गुरु या भगवान के साथ नहीं । मन निर्मल बनाने की चेष्टा करना ही आवश्वक है । साष्टांग प्रणाम नहीं ।

प्रश्न-६९ : गुरु भगवान रूप है तो वे सब जानते होगें या नहीं ?

उत्तर : यदि गुरु भगवान स्वरूप है तो फिर वह सर्व है अखण्ड है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई जानने योग्य है ही नहीं । यदि वह भेद देखता है अन्य व्यक्तियों के समान है तो वह भी उन्हीं के समान अज्ञानी ही है । एक अखण्ड सत्ता को जाननेवाला अपने अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देखता है । जानना सदा दूसरे के लिये होता है जो हमसे पृथक् हैं ।

प्रश्न-७० : समर्पण क्या है एवं कैसे किया जाता है ?

उत्तर : पूर्ण समर्पण का अर्थ है 'मैं' (देहभाव) का पूरी तरह लोप हो जाना । इस अवस्था में सब पूर्व संस्कार नष्ट होकर, मुक्ति का अनुभव हो जाता है ।

प्रारम्भ में सम्पूर्ण समर्पण अवश्य कठिन सा प्रतीत होता है किन्तु समय आने पर उससे पूर्ण समर्पण हो जावेगा । आंशिक समर्पण निश्चय ही सबके लिये सुलभ है ।

रोगी अपने रोग से निवृत्त होने के लिये चिकित्सक के होथों में पूर्ण समर्पण कर देता है । रोगी को चिकित्सा कराने के लिये चिकित्सक

को पूर्ण स्वतन्त्रता देनी होती है तथा डाक्टर को बिना कुछ रुकावट किये केवल शान्त रहकर, सहते एवं देखते रहना होगा । उसी प्रकार अपने सद्गुरु के प्रति चुप हो जाना यही सम्पर्ण है ।

पूर्ण समर्पण कर देने के बाद किसी भी प्रकार की शंका एवं प्रश्न गुरु अथवा परमात्मा के प्रति साधक के मन में नहीं उठता है । यदि उठता है तो उसने पूर्ण समर्पण नहीं किया है ।

यदि किसी उच्चतर विश्वस्थनीय के चरणों में समर्पण कर दिया तो फिर वह कैसे तुम्हें बन्धन में गिरने देगा ? तुम पूर्ण समर्पण करदो एवं वह उच्चतर शक्ति स्वयं को तुम से परिचित करा देगी ।

यदि समर्पण यथावत् है तो व्यक्ति का देहभाव नष्ट हो जाता है और फिर दु:ख का कोई कारण नहीं रहता । शाश्वत सत्ता जो केवल आनन्द है वह प्रकट हो जाती है ।

एक बार में ही सम्पूर्ण समर्पण करदो और निज इच्छा देहाभिमान को समाप्त करदो ।

जिज्ञासु को केवल गुरुका शिष्यत्व ग्रहणकर उनकी आरती, पूजा, प्रणाम, भेंट, भोगादि बाह्य रीति रिवाज में ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये । मुमुक्षु को समस्त दृश्यों के मूल में छिपे सत्य को जानले की जिज्ञासा करना चाहिये और वही तुम हो ।

प्रश्न-७१ : गृहस्थी, संन्यासी व ब्रह्मचर्य अवस्था में कौन पवित्र है ?

उत्तर : संन्यासी जीवन में भी विश्वामित्र उतने ही पवित्र थे जितने कि विवाहित जीवन में । उनमें तनिक भी अन्तर नहीं था । विवाहित अवस्था में भी वे शरीर दृष्टि से उतने ही अपवित्र थे जितने कि संन्यासी

अवस्था में अपवित्र थे ।

कहते हैं शुकदेवजी विवाह किया और उनके सन्तान भी हुई । उनके लिये न अपवित्रता है न बन्ध है ।

प्रश्न-७२ : ज्ञानी का जीवन चरित्र कैसा होता है ?

उत्तर : ज्ञानी के बाह्य आचरणों को देख भ्रमित नहीं होना चाहिये । 'वेदान्त चूड़ामणी' ५/१८१ में कहा है । यद्यपि जीवन्मुक्त पुरुष प्रारब्धानुसार से आवृत्त होता है, तथापि वह सर्वदा उस आकाश के समान निर्मल है जो वायु वश कभी बादलों से आवृत होता है और कभी बादलों से मुक्त स्वच्छ । आत्मज्ञानी हर अवस्था में आत्मनिष्ठ रहता है । आत्मा में ही रमण करता है । ज्ञानी शाश्त्र मर्यादा से मुक्त हो ता है ।

वियोग के समय, हानि के समय ज्ञानी सामान्य लोगों की तरह दुःख रूप भी प्रतीत होता है किन्तु दुःख से ग्रसित नहीं होता ।

❖ ज्ञानी यदि कामोपभोग में निमग्न प्रतीत हो तो भी यही जानना चाहिये कि इस प्रकार वह आत्मा के उस सहज शाश्वत आनन्द में तल्लीन है । उसने अपने मूल प्रकृति एवं स्वंय को जीव और ब्रह्म के रूप में विभाजित कर अब उनके पुनर्मिलन का आनन्द ले रहा है ।

❖ क्रोध रूप होकर भी वह अपने प्रेमियों का एवं अपराधी का हितैषी है । ज्ञानियों की समस्त क्रियाएँ मानवीय स्तर पर दिव्यत्व का व्यक्त रूप है । ज्ञानी की सदेह मुक्ति में किंचित् भी सन्देह नहीं करना चाहिये । ज्ञानी का अस्तित्त्व जगत् कल्याण हेतु ही है । उनकी सभी क्रियाएँ प्रारब्धानुसार स्वयं में होती है ।

ज्ञानियों के लोक मर्यादा विरुद्ध बाह्य आचरण होने पर भी विमूढ़ हो उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिये ।

राजा परीक्षित निर्जीव नव प्रसूत शिशु हुआ था। तब ज्ञानियों ने बालक की रक्षार्थ उपस्थित सभी से प्रार्थना, पुकार की। अन्त में कृष्ण ने समस्त ऋषियों, मुनियों, ब्रह्मचारियों के सम्मुख कहा कि जो पूर्ण जीवन ब्रह्मचारी रहा हो वह इसे स्पर्श कर दे तो इस बच्चे का पुनरुज्जीवन सम्भव है। स्वयं शुकदेव ने भी उसे स्पर्श करने का साहस नहीं किया न विख्यात ऋषियों ने। तब श्रीकृष्ण ने अपना हाथ स्पर्श कर कहा ''यदि मैं नित्य ब्रह्मचारी होऊं तो बालक जीवित हो जावे।'' बालक ने श्वाँस लेना प्रारम्भ किया तथा वही परीक्षित हुआ।

सोचें! १६१००८ गोपियों से समावृत कृष्ण किस प्रकार ब्रह्मचारी है? दुर्वासा ऋषि गोपियों द्वारा सब कुछ खाकर भी केवल नराहारि कैसे बेन रह, ? यह साक्षी भाव का चमत्कार है।

प्रश्न-७३ : सन्तों के समक्ष सत्संग समय के अलावा रहने से क्या हानि है ?

उत्तर : सन्त समागम अवश्य करो किन्तु निरन्तर उनके समीप मत रहो। सत्संग आत्म विकास के लिये निश्चित ही परमावश्यक है किन्तु सर्वदा सन्तों से चिपका नहीं रहना चाहिये।

जो साधक सन्तों से सदा चिपका रहता है उसके मन से सन्त के प्रति श्रद्धा शिष्टाचार, आज्ञा पालन का भाव गिरता चला जाता है। क्योंकि फिर वह गुरु की बहुकालिक सहचर्या से शंकालु एवं आलोचक बन जाता है। साधक को सदगुरु के प्रति आस्था, शुद्धता एवं सकंल्प से पतित होना सबसे बड़ी हानि है! सन्तों से ग्रहण की गयी ज्योति तथा प्रेरणा का प्रभाव साधक के मन से क्षीण अथवा लुप्त हो जाने से पूर्व ही साधक को उनसे बिदा ले लेना उचित है।

पूर्ण विकसित महाकाय वृक्ष की छाया में छोटे पौधे का शक्ति तथा आकार वृद्धि नहीं हो पाता। वह छोटा, सिमटा रुग्ण ही रह जाता है। यदि पौधा खुले आकाश में आंधी, तूफान्, ताप, शीत तथा परिवर्तनशील ऋतुओं के अन्य प्रकोपों को सह लेगा तो निश्चय ही आकाश तथा भूमी से पोषण ग्रहण कर पुष्ट महान वृक्ष बन जायगा।

यदि साधु संग उपलब्ध न हो तो अपने मन को एकाग्र बनाये रखने हेतु प्राणायाम, आसन, जप, ध्यान, भक्ति आदि बाह्य साधनों को करते रहना चाहिये। फिर वह परमात्मा ही गुरु रूप में प्रकट हो ज्ञान द्वारा मुक्ति प्रदान करा देते हैं। सद्गुरु जो वास्तव में ईश्वर ही है, भक्त का मार्ग दर्शन कर बताता है कि ईश्वर आत्मा रुप से तुम में है और वह आत्मा तू है। इससे मन अन्तर्मुख हो सोऽहम् रूप से आत्म साक्षात्कार करलेता है।

गुरु आन्तरिक भी है तथा बाह्य भी। बाहर से वह मन को ढकेल कर उसे अन्तर्मुख करता है। और अन्तर से वह मन को आत्मा की और खींचता है।

प्रश्न-७४ : क्या सद्गुरु अपनी शक्तिद्वारा शिष्य को आत्म साक्षात्कार करा देते हैं ?

उत्तर : गुरु आत्म साक्षात्कार नहीं कराते हैं वह केवल शिष्य के मन में असाक्षात्कार की भ्रान्ति को ही दूर करते हैं। अर्थात् साधक के मन में जो यह भ्रान्ति रहती है कि अभी मुझे आत्म साक्षात्कार नहीं हुआ है इस भ्रान्ति को ही मात्र दूर कराते हैं क्योंकि शिष्यका वास्तविक स्वरूप तो साक्षात् आत्मा ही है जो सर्वदा है।

जब तक तुम आत्मा के साक्षात्कार के प्रयास में, मुक्ति के प्रयास में लगे हुए हो तब तक सद्गुरु की आवश्यकता है। ताकि वह यह निश्चय

करा सके कि तुम आत्मा ही हो, तुम मुक्त ही हो । जब तक तुम अपने को देह एवं आत्मा को, परमात्मा को अन्य जानते हो, तब तक गुरु आवश्यक है । द्वैत की इस भावना का नष्ट होना ही अज्ञान का नाश है । चूँकि तुम अपने को देह मान बैठे हो इसीलिये गुरु भी तुम्हें अपनी तरह देहधारी ही दिखाई पड़ता है । न तुम देह हो, न गुरु देह है । तुम आत्मा हो । गुरु भी आत्मा है । ऐसा ज्ञान जिससे प्राप्त होता है वही गुरु है ।

प्रश्न-७५ : यह कैसे जाने कि यह पूर्ण गुरु है एवं गुरु बनाने योग्य है ?

उत्तर : उनके सानिध्य में तुम्हें प्राप्त शान्ति तथा तुम में अपूर्व उत्पन्न होने वाली श्रद्धा से ही निर्णय लिया जा सकेगा । जिसके पास बैठ मन शांत स्वतः होने लगे । शंकाए गिरने लगजावे । उठकर जाने की इच्छा न हो, मन सदा उन चरणों में खिंचा रहे । तब जानो की कोई सद्गुरु प्राप्त हुआ है । यही वह स्थान है जहाँ अपना सम्पूर्ण समर्पण किया जा सकता है ।

प्रश्न-७६ : क्या अपने आप बिना गुरु के केवल शास्त्र वर्णित साधनों के करने से मुक्ति हो सकेगी ?

उत्तर : जो अपना निज स्वरूप है उस मुक्ति के आनन्द का साक्षात्कार करने के लिये मुमुक्षु को प्रयास करना आवश्यक है । इस परमानन्द की अनुभूति केवल ज्ञान से हो सकती है तथा ज्ञान की प्राप्ति केवल आत्म विचार अथवा 'मैं कौन हूँ' कि सतत खोज से होती है । इस आत्मा की खोज की पद्धति को जानने के लिये गुरु की कृपा प्राप्त करना आवश्यक है ।

केवल पुस्तक अध्ययन द्वारा उस आनन्द की प्राप्ति कदापि सम्भव

नहीं है । वह तो केवल सद्गुरु द्वारा वेदान्त तत्त्व के श्रवण मननादि साधनों द्वारा एवं सद्गुरु की भक्तिपूर्ण सावधानी से आदेशों के पालन में ही निहित है । अपनी विद्वता से परमात्म साक्षात्कार नहीं होगा ।

'गुरु बिन भव निधि तरइ न कोई'

'आचार्यवान् पुरुषो वेद'

'तद् विज्ञानार्थ सगुरुमेवाभिगच्छेत'

'तदविद्धि प्रणिपातेन ।'

परमात्मा गुरु रूप में प्रकट होकर मानव के देहाभिमान को दूर कराते हैं । तुमने अभी ''साक्षात्कार नहीं किया है'', ''मुक्ति प्राप्त नहीं की है'' इस भ्रान्ति को दूर करने हेतु गुरु की परम आवश्यकता है । यह भ्रान्ति गुरु बिना दूर नहीं होती है । सद्गुरु केवल अज्ञान को हटाने में हमारी मदद करता है आत्म साक्षात्कार कराने में नहीं । क्योंकि आत्मा तो हमारा स्वरूप ही है ।

गुरु का अनुग्रह डुबते हुए साधक को जल से बाहर निकालने के लिये बढ़ाये हुए हाथ या नौका की तरह है । गुरु उपदेश के पालन में अवहेलना होना गुरु के प्रति संशय उत्पन्न होने का प्रमाण है ।

प्रश्न-७६ : गुरु साक्षात् परब्रह्म कैसे हो सकता है ?

उत्तर : यह कल्पना तुम इसलिये करते हो कि गुरु बाहर है । गुरु दिखाई पड़ने वाला हाड़, मांसमय शरीर है । ऐसा नहीं है । गुरु अन्दर है । वस्तुत: आत्मा गुरु है । इस सत्य का बोध करो । अपने अन्दर ही खोजो एवं उसका दर्शन करो । उस अवस्था में गुरु से तुम्हारा निर्विघ्न सम्पर्क बना रहेगा, सन्देश (सोऽहम्) नित्य उपलब्ध है । यह कभी भी बन्द नहीं होता । न तुम्हारा यह कभी परित्याग करता है और न तुम गुरु

(आत्मा) से कभी दूर हो सकते ।

तुम्हारा मन बहिर्मुखी है । इस प्रवृत्ति के कारण मन वस्तुओं को बाहर देखता है तथा उसी तरह गुरु को भी बाहर ही देखता है । वस्तुत: सत्य इससे भिन्न है । गुरु आत्मा है । मन अन्तर्मुख होने से पता लगेगा कि गुरु तुम्हारी आत्मा है उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है ।

क्या तुम देह हो ? नहीं । तुम आत्मा हो । आत्मा ही सर्व वस्तुएँ एवं समस्त ब्रह्माण्ड रूप में विद्यमान है '*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*' । आत्मा से पृथक् कुछ भी नहीं रह सकता फिर तुम गुरु से पृथक् कैसे रह सकते हो और गुरु तुमसे पृथक् भिन्न कैसे रह सकता है ? अत: गुरु तुम्हारी आत्मा ही है । कल्पना करो कि तुम्हारी देह पृथक्-पृथक् स्थानों पर भ्रमण करे तो क्या वह आकाश या आत्मा से पृथक् हो सकती है ? इसी प्रकार तुम गुरु (आत्मा) से पृथक् कभी नहीं हो सकते । क्या ऐसा भी कोई क्षण होता है जब तुम आत्मा साक्षात् नहीं होते हो ? तुम सर्वदा आत्मा हो भिन्न नहीं । जहाँ तक तुम अपने को पृथक् शरीर मात्र मानते हो वहाँ तक तुम्हें यह ज्ञान प्रदान करने के लिये गुरु की आवश्यकता है । तुम देह सीमा में बन्धे नहीं हो बल्कि व्यापक अपरिच्छिन्न आत्मा हो । सत्गुरु का उद्देश्य क्या है ? जिज्ञासु मन से समस्त भ्रान्ति एवं अहंकार का दहन, छेदन नाश कर अखण्ड आत्मभाव में उसकी बुद्धि को स्थित करादेना ।

प्रश्न-७७ : जगत् सत्य है या मिथ्या ?

उत्तर : यह जगत् जिसे मिथ्या या कल्पित बताया जाता है वह किसे भासित हो रहा है ? जगत् जगत् को, अनात्मा-अनात्मा को, जड़-जड़ को, तो भासित हो नहीं सकता । जगत् किसी चैतन्य द्रष्टा को ही भासित हो सकेगा । चैतन्य के बिना जगत् के अस्तित्त्व को जड़ जगत् प्रमाणित नहीं कर सकेगा । अत: आत्मा ही सत्य है । आत्म रूप में दृश्य

पदार्थ सत्य है तथा आत्मा से भिन्न जगत् कल्पित है । जगत् का द्रष्टा तुम आत्मा ही सत्य हो ।

प्रश्न-७८ : 'मैं ईश्वर हूँ' ऐसा संकल्प करना चाहिये ?

उत्तर : संकल्प के बिना भी तुम ईश्वर हो । तुम्हारे संकल्प तुम से अलग नहीं है । तुम ऐसा संकल्प भी मत करो कि 'मैं ईश्वर हूँ' । क्योंकि चिन्तन, भजन, जप, ध्यान अन्य का होता है । अनुभव करो एवं जानो कि मैं आत्मा हूँ न कि विचार करो कि मैं ब्रह्म हूँ । 'अस्तित्त्व ही मैं हूँ' इसका अभिप्राय है कि मनुष्य को आत्म भाव से रहना चाहिए । वह सदैव केवल आत्मा है इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । तथापि वह जिज्ञासा करता है 'मैं कौन हूँ' ? तो यह जीव माया से भ्रमित है । क्योंकि अज्ञानी ही जिज्ञासा करता है कि मैं कौन हूँ ? जिसे सद्गुरु द्वारा मैं रूप से आत्म साक्षात्कार हो गया है वह ऐसा प्रश्न कभी नहीं करेगा । आत्मा का अनात्मा से मिथ्या तादात्म्य ही तुमसे प्रश्न कर्ता है ''मैं कौन हूँ'' ? आत्मा होते हुए आत्मा में संशय केवल देह के साथ मिथ्या अहंकार करने से है । यही अज्ञान है । तुम आत्मा हो । आत्म भाव से रहो । मैं आत्मा हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं द्रष्टा हूँ , सोऽहम् ऐसा चिन्तन, जप मत करो । चिन्तन, भजन, जप, याद, सदा दुसरे का होता है ।

प्रश्न-७९ : क्या बिना गृह त्याग किये मोक्ष हो सकता है ?

उत्तर : संसार तुम्हारे मन का परिणाम है अपने मन को जानो । तब संसार को देखो । तुम अनुभव करोगे कि संसार आत्मा से भिन्न नहीं है । संसार बाहर नहीं है । जगत् का भान चैतन्य से होता है । प्रथमत: कौन है ? चैतन्य सत्ता तुम आत्मा या उदय होने वाली चेतनता । इस प्रकार संसार अहम् (मन) का परिणाम है । मन का उद्गम स्थान का अनुसन्धान ही अन्तिम लक्ष्य है वही तुम आत्मा हो । कहीं दूर जाने की जरुरत नहीं ।

चाहे गृहस्थ में रहो चाहे संन्यास लेकर जंगल में रहो तुम्हारा मन तो साथ ही रहेगा। यदि तुम गृहस्थ से विरक्त हो जाओ तो यह फिर मैं संन्यासी हूँ का अभिमान करेगा तथा अपने परिवार के स्थान पर शिष्य, मकान के स्थानपर आश्रम का, नगर के स्थान पर वन का, जाति के स्थान पर सम्प्रदाय व अखाड़े का संकल्प करेगा किन्तु मानसिक चिन्तन तो चलता ही रहेगा। नये वातावरण में ज्यादा कष्ट, बाधा संकल्प होगें। बाधा मन की है वातावरण का परिवर्तन सहायक नहीं होगा। बल्कि मन को जीतना होगा फिर चाहे जंगल में रहो या घर में। जब जीतना मन को ही है तो फिर उसे यहाँ घर में भी जीता जा सकता है। तुम वातावरण मत बदलो इसी वातावरण में अभ्यास करो।

सन्त महात्माओं के आश्रम में जाकर देखो वहाँ क्या नहीं है सब वह है जो संसार में, संसारी के घर में रहता है। तुम मेरे पास यहाँ आये हो। देखो यहाँ क्या नहीं है - कार है, फौन है, टी.वी है, मोबाइल फोन है, फ्रिज है, कूलर है, पंखे हैं। पलंग, कपड़े एवं जिवन निर्वाह की सभी सामग्री एवं साधन है। क्या तुम्हारे घर के वातावरण से यहाँ कुछ भिन्न है ? निर्विकल्प समाधि से सहज समाधि को आचार्य शंकर ने श्रेष्ठ कहा है।

अस्तु निश्चय करो 'मैं देह नहीं हूँ' इसे रेचक जाने (श्वाँस बाहर निकलने को योग में रेचक कहते हैं।)

'मैं कौन हूँ' इस विचार को मन में भरना पूरक कहलाता है। योग में श्वाँस भीतर लेने को पूरक कहते हैं।

श्वाँस रोकने को योग में कुम्भक कहते हैं। सहज समाधि के लिये 'सोऽहम्', 'मैं वही हूँ' इस प्रकार की धारण को ही कुम्भक कहते हैं।

सुषुप्ति में संसार एवं मन की अनुभूति नहीं होती है केवल आनन्द की स्थिति रहती है। जाग्रत में ही इस मिथ्या मैं के उदय होते ही संसार की उत्पत्ति होती है। केवल 'मैं देह हूँ' के मिथ्या सकंल्प से परे हो जाओ अर्थात् अपने को मैं देह हूँ ऐसा मिथ्या अभिमान से बचाओ। संसार से बाहर न भागने की इच्छा करो और न संसार से बाहर जा सकोगे। संसार मन ही है वह भागने वाले के साथ ही रहता है।

अहम् ब्रह्मास्मि श्रुति महावाक्य का तात्पर्य स्थिति से है जैसे देह, जाति, नाम के प्रति बुद्धि की दृढ़ भ्रान्त स्थिति हो गई है। इस देहाभिमान की तरह मन ही मन आत्म स्थिति रखना है किन्तु मैं ब्रह्म हूँ, सोऽहम्, शिवोऽहम् यह मंत्र जप करने की बात नहीं है। मंत्र तोता करता है, टेपरेकर्ड करती है, ग्रन्थ में लिखा है तो क्या तोते, टेप, केसिट, ग्रन्थ की मुक्ति हो सकेगी? कभी नहीं। केवल लगातार श्वाँस -श्वाँस से या माला के मणको द्वारा ब्रह्म का जाप करने से कोई ब्रह्म नहीं होता। ब्रह्म तक पहुँचने का प्रयास ऐसे मत करो कि ब्रह्म कोई तुमसे अन्य दूर पर स्थित है। अहं ब्रह्मास्मि, सोऽहम्, शिवोऽहम् का भाव यही है कि तुम स्वयं ब्रह्म हो। वह तुम्हारी आत्मा याने तुम हो। ब्रह्म अन्यत्र तुमसे भिन्न सत्ता का नाम नहीं। अत: इस निष्ठा को प्राप्त करो। यह वह कुछ न करो। यहाँ-वहाँ कही न जाओ। ब्रह्माकार वृत्ति तो मन के भ्रान्ति जन्य संस्कारों को दूर करने में सहायक होती है। ब्रह्म तुम हो ही।

प्रश्न-८० : ज्ञानी को सिद्धि प्राप्त होती है या नहीं ?

उत्तर : आत्म सिद्धि ज्ञानी को ही प्राप्त होती है। आत्मा से श्रेष्ठ कोई सिद्धि नहीं है एवं ज्ञानी अन्य को वरदान देने में भी समर्थ होता है और वह जिज्ञासु को भी आत्म सिद्धि का वरदान देता है। योगियों, तान्त्रिकों, जापकों एवं औषधियों से प्राप्त होने वाली सिद्धि नाशवान होती है। सिद्धियों,

जादुओं, सर्कसों के खेल प्रदर्शन हेतु अन्य दर्शकों की आवश्यकता होती है । इनमें द्वैत भाव प्रबल रहता है, अपनी प्रंशसा का भाव रहता है । अपने से बड़े सिद्ध को देख ईर्षा करते हैं एवं उसे मारने तक का भी विचार कर लेते हैं । इससे यह प्रमाणित हुआ कि सिद्धियों के प्रदर्शन करने वालो में ज्ञान का नितान्त अभाव रहता है ।

सिद्धियों के इच्छुक व्यक्ति ज्ञान मात्र के विचार से सन्तुष्ट नहीं होते । इसलिये वे सिद्धियों को भी प्राप्त करना चाहते हैं । आगे चलकर सिद्धियों, चमत्कारों एवं वरदान देने के जाल में वे ऐसे फंस जाते हैं कि ज्ञान के परमानन्द की उपेक्षा कर केवल सिद्धियों की महत्वाकांक्षा करते रहते हैं । इस उद्देश्य से वे राजमार्ग को छोड़ संकीर्ण कंटक मार्ग की तरफ चले जाते है । जिससे उनके पथ भ्रष्ट होने की संभावना हो जाती है ।

ज्ञानी तो सिद्धि की चर्चा, सिद्धि मार्ग का विचार तक भी नहीं करते हैं । जब लोक वासना नष्ट हो जाती है तभी ज्ञान दृढ़ एवं फल दायक होता है । अत: सिद्धियाँ किसी भी विचार के योग्य नहीं है । केवल ज्ञान का ही लक्ष्य करना चाहिये और उसी को प्राप्त करना है । उसके बाद सिद्धि की आवश्यकता मालूम पड़े तो साधन करें । जो नाना देवी-देवता शक्ति, गणपति, सिद्धियों आदि की चर्चा करता है उसके श्रवण में रस रखता है उसने आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया है अन्यथा उन्हें सिद्धि विषय में चर्चा करने में रस कभी नहीं आता । केवल आत्मा का साक्षात्कार करना है । आत्मा हृदय में स्वयं है । वही तुम साक्षात् हो । तुम अपने नित्य सिद्ध आत्म स्वरूप को भूल अन्य को पाने, जानने, देखने की व्यर्थ चेष्टा न करो ।

यह तथा वह जानने की अपेक्षा सदैव यह विचार करें कि मैं कौन हूँ ? सैकड़ों दूसरे प्रश्न पूछने एवं वस्तु ज्ञान की इच्छा रखने की अपेक्षा

आत्मा को जानना एवं उसकी खोज करना श्रेष्ठ है ।

आत्मभाव में रहना सरल है जो हम हैं ही, कुछ कठिन, नहीं है । उसे पाने के लिये कोई साधन की आवश्यकता नहीं । क्योंकि हम आत्मा ही है । आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है अन्य सभी बातें, साधन, कल्पना है । अत: अभी और यहीं आत्मा होकर रहो । वन को भागने, गृह त्यागने, नोकरी छोड़ने अथवा कमरा बन्द करके इन्द्रिय द्वारों को रोकने की आवश्यकता नहीं । अपने आवश्यक कर्तव्यों का पालन करते हुए स्वयं को कर्ता भाव से मुक्त करलो । आत्मा साक्षी है और वही तुम हो ।

हम केवल आत्मा है यह बात जितनी बार दोहराई जावे उतना ही श्रेष्ठ है । मुक्ति के लिये बस यही एक विचार आवश्यक है । हम आत्मा है, आत्मा के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं है । किन्तु अज्ञान के कारण अपने आपको देह संघात् मान लिया है एवं देह के प्रकाशक, साक्षी, द्रष्टा, आत्मा है इस बात को भूल गये हैं । अपने आप को दृश्य देह, इन्द्रिय तथा अन्त:करण से मिलाकर कर्म के कर्ता-भोक्ता जीव एवं जन्म-मुत्यु वाला शरीर मान लेना ही अज्ञान है ।

स्वयं को भ्रान्त न करो, तुम वही हो इस निश्चय से अधिक कुछ भी उपलब्ध नहीं करना है । केवल असत्य नाम, रूप का संसर्ग त्यागना है । देह की सीमा तुम्हारी सीमा नहीं है तुम अनन्त हो । अज्ञान के कारण हम अपने को अनात्म देह से मिला देते हैं । हम मिथ्या मैं की जड़ को खोजें । इस मिथ्या मैं का उदय कहाँ से होता है ? खोज करें । खोज के अन्त में हमें ज्ञात होगा कि वह अहंकार है । उस अंहकार का मुल खोजते ही अहंकार अदृश्य हो जाता है तथा शाश्वत आत्म ज्योति ही रह जाती है ।

श्रेष्ठ साधना इस बात की खोज में है कि ''मैं कौन हूँ'' यही

सबसे अधिक महान शक्तिशाली, पुण्यशाली समस्त पाप नाशक चिन्तन है। यही वास्तविक प्राणायाम है। ''मैं देह नहीं हूँ'' यही विचार रेचक है। 'मैं कौन हूँ' खोज (कोऽहम्) पूरक है, ''मैं वही हूँ'' - साक्षात्कार (सोऽहम्) कुम्भक है। जो साधक इस प्रकार विचार पद्धति का अनुसरण करते हैं, उनके लिये अन्य किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं है। आत्म-विचार का फल यह अनुभूति होना है कि आत्मा ही सब कुछ है, तथा आत्मा से अन्य कुछ भी नहीं है।

जीव को अपने कल्याणार्थ अपने अहंकार को किसी सद्गुरु अथवा अपने इष्ट के साथ ओत-प्रोत कर देना चाहिये जिससे वह आत्मा का साक्षात्कार अति शीघ्र कर लेता है। बिना गुरु के चरणों में समर्पित हुए कल्याण कभी नहीं हो सकता।

साधकों को उपासनाओं में न उलझ केवल 'कोऽहम् ?' की जिज्ञासा कर आत्मानुसन्धान कर लेना चाहिये।

प्रश्न-८१ : क्या आत्मा ब्रह्म का विवर्त है ?

उत्तर : जब व्यक्ति अलंकारों के वास्तविक तत्त्व स्वर्ण की उपेक्षाकर अलंकारों को महत्व देता है तब उसे बताया जाता है कि वे समस्त नाम, रूपधारी अलंकार स्वर्ण ही है। अलंकार तो स्वर्ण का रूपान्तर (विवर्त) है। किन्तु तुम इसी प्रकार आत्मा के विवर्त नहीं तुम स्वयं ही आत्मा कूटस्थ एकरस अपरिवर्तन शील स्वरूप हो। आप आत्मा ब्रह्म के रूपान्तर नहीं है।

प्रश्न-८२ : मैं एकान्त में जाना चाहता हूँ ?

उत्तर : एकान्त मनुष्य के मन में है। सांसारिक अशांति से घिरा हुआ व्यक्ति भी मानसिक शान्ति बनाये रखने में समर्थ होता है। दूसरा

व्यक्ति एकान्त वन में रहकर भी मन को वश में करने में असमर्थ हो सकता है। उसे एकान्त में रहने वाला नहीं कहा जा सकता। वासना में रहने वाला व्यक्ति चाहे जहाँ रहे वह एकान्त प्राप्त नहीं कर सकता। वासनाओं से निर्लेप व्यक्ति कहीं भी रहे वह एकान्त में ही है। नगर और सांसारिक कार्यों की भीड़ में रहकर भी उसके लिये एकान्त बना रह सकता है। जब कि अज्ञानी एकान्त वन में रहकर भी अपने मन के विचारों की भीड़ में बना रहता है।

आत्मा में स्थित रहना ही एकान्त है। चुंकि आत्मा से भिन्न कोई वस्तु या स्थान नहीं जहाँ जाने पर एकान्त कह सकें। व्यापक आत्मा होने से कहीं भी जाना असम्भव एवं असंगत ही है। क्या तुम आत्मा से बाहर जा सकते हो ? तब निवृत्ति कहाँ से कहाँ जाने पर होगी ? एकान्त का अर्थ, संन्यास का अर्थ, निवृत्ति का अर्थ, वैराग्य का अर्थ एकही है वह है आत्म भाव में स्थिर रहना। आत्मा सदा है। आत्मा ही तुम हो। अभी भी तुम आत्मा में ही हो। यदि तुम आत्मा में नहीं हो तो बताओ और तुम कहाँ हो ? तुम्हें जाना कहाँ है ? केवल आवश्यकता इस दृढ़ विश्वास की है कि तुम आत्मा हो ! न कहीं जाना है न कुछ त्यागना है।

तुम कहीं भी रहो किसी भी स्थिति से रहो, इससे तुम्हारे आत्मा होने में क्या अन्तर पड़ना है ? कुछ नहीं। तत्त्व की बात है मन का निज मूल आत्म रूप में रहना। मन चंचल हो तो निर्जन स्थान में भी साधु महात्मा बाजार भीड़ लगा लेते हैं।

प्रश्न-८३ : प्रज्ञान क्या है ?

उत्तर : वास्तव में जाग्रत अवस्था अज्ञान एवं सुषुप्ति अवस्था प्रज्ञान अर्थात् पूर्णज्ञान है। श्रुति के अनुसार 'प्रज्ञान ब्रह्म' प्रज्ञान ही ब्रह्म है।

ब्रह्म नित्य है। सुषुप्ति के अनुभव करने वाले को प्रज्ञा कहते हैं। वह तीनों अवस्थाओं में प्रज्ञानम् है। इसका सुषुप्ति अवस्था में विशेष महत्व यह है कि वह ज्ञान से परिपूर्ण (प्रज्ञानघन) है। जाग्रत में विपरीत ज्ञान अर्थात् अज्ञान है। जब कि सुषुप्ति में यह केवल शुद्ध प्रज्ञान रहता है।

प्रश्न-८४ : ब्रह्मचर्य क्या है ?

उत्तर : मैं आत्मा हूँ यह आत्म निष्ठा ही अपने आप में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य है। व्रत करना ब्रह्मचर्य नहीं है। ब्रह्मभाव में चर्या, अनुगमन का नाम ब्रह्मचर्य है। इन्द्रिय को विषयों की तरफ जाने से रोकना ब्रह्मचर्य नहीं।

स्वयं शुकदेव अपनी ब्रह्मचर्य व्रत की शुद्धता के सम्बन्ध में पूर्ण निश्चिन्त नहीं थे। जब कि कृष्ण थे।

परीक्षित निर्जीव नवप्रसूत शिशु था। रानियों ने आर्त स्वर से परीक्षित की रक्षा हेतु पुकार की। कृष्ण ने कहा यदि कोई यहाँ नित्य ब्रह्मचारी है तो इस बालक को स्पर्श कर दे तो उसका पुनरुज्जीवन हो सकता है। स्वयं शुक ने भी बालक को स्पर्श करने का साहस नहीं किया। विख्यात ऋषियों में से किसी एक ने भी बालक को स्पर्श करने का साहस नहीं किया। तब कृष्ण ने आँखे बंद कर बालक का स्पर्श किया तथा कहा ''यदि मैं नित्य ब्रह्मचारी होऊँ तो बालक पुनः जीवित हो जावे।'' बालक ने श्वाँस लिया और आगे चलकर परीक्षित का नाम विख्यात हुआ।

जरा सोचिये कि १६,१०८ गोपियां से समावृत्त कृष्ण किस प्रकार ब्रह्मचारी है। वही जीवन्मुक्त है, वही ब्रह्मचारी अथवा संन्यासी है जो आत्मा के अलावा अन्य कुछ नहीं देखता या अनुभव नहीं करता है।

संन्यासी जीवन में विश्वामित्र उतने ही पवित्र थे जितने की विवाहित होकर पवित्र थे ।

प्रश्न-८५ : संन्यास क्या है ?

उत्तर : अपने व्यक्तित्व का त्याग ही संन्यास है । यह सिर मुड़ाना अथवा गेरुआ वस्त्र धारण करने जैसा नहीं है । एक गृही भी संन्यासी हो सकता है यदि वह अपने को असंगात्मा रूप से जानता है । इसके विपरीत एक संन्यासी भी गृहस्थ हो सकता है यदि वह अपने संन्यास, आश्रम, मठ तथा शिष्य का अहंकार करता है तो । अभिमान ही उसे गिराता है । अर्थात् संन्यासी भी जो यह धारणा रखता है कि ''मैं संन्यासी हूँ'' तो वह सच्चा संन्यासी नहीं है । और वह गृहस्थ सच्चा संन्यासी है जो इस अभिमान से मुक्त है कि मैं गृहस्थ हूँ ।''

प्रश्न-८६ : मानव जीवन में आकर हम परोपकर कैसे करे ?

उत्तर : मानव जीवन में आत्म ज्ञान प्राप्त करना ही परम उपकार है । बिना आत्म बोध के कोई भी परोपकार नहीं कर सकता । अपना कल्याण किये बिना परोपकार की चर्चा आकाश में महल बनाने जैसी है ।

समस्त क्रियाएँ वासना से होती है, वासना अहंकार से पैदा होती है, अहंकार अज्ञान से होता है 'मैं करता हूँ' यह कहना ही मूढ़ता एवं बन्धन का हेतु है ।

प्रकृतेः क्रियमाणीनि गुणे कर्माणि सर्वशः ।

- गीता : ३/२७

आत्म साक्षात्कार के बाद ज्ञानी ही जगत् की अधिक प्रभावशाली ढंग से सेवा कर सकता है । आत्मज्ञान से रहित मूढ़ व्यक्ति परोपकार नहीं कर सकता । बल्कि वह अपने साथ अन्य को भी नरक में ही डालेगा ।

जब व्यक्ति स्वयं शान्त नहीं है तब वह समाज या परिवार में शान्ति का प्रसार कैसे करेगा ? यदि कोई आत्मा का बोध प्राप्त कर शान्त हो जाता है तो उसके व्यक्तिगत प्रयास के बिना भी शान्ति का प्रसार स्वयं होता रहेगा ।

तुम स्वयं की चिंता करो । संसार को अपनी रक्षा, सम्भाल, कल्याण स्वयं करने दो । निज आत्मा को देखो । तुम्हें परमात्मा ने समाज सुधार, समाज कल्याण का ठेका नहीं दिया है । व्यक्तिगत कल्याण ही विश्व कल्याण है, क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति की उन्नति ही विश्वोन्नति एवं परोपकार है । अज्ञानी जगत् को अपने से पृथक् मान अपूर्णता एवं क्लेश से पीड़ित रहता है ।

मूर्ख व्यक्ति ही ऐसा कथन करते हैं कि चाहे मुझे शान्ति, मुक्ति न मिले तो कोई बात नहीं, किन्तु मैं सभी को शान्ति, मुक्ति बाँटना, दिलाना चाहता हूँ । भले मुझे मुक्ति-शान्ति, बाद में मिले पर में इससे पहले सभी मनुष्यों को मुक्ति करा देना चाहता हूँ । यह कथन तो ऐसा ही है जैसे कोई व्यक्ति स्वप्न में यह सोच रहा हो कि मेरे जागने से पूर्व ही मैं इन सभी स्वप्न पुरुषों को जाग्रत करादूं तो मेरे लिये यही परोपकार परमशान्ति एवं मुक्ति है । ऐसा स्वप्न द्रष्टा भी ऊपर वर्णित पर उपकारी दार्शनिक जैसा ही हास्यप्रद है । क्या स्वयं के जाग्रत होने के अलावा कोई अन्य स्वप्न पुरुष है जिसे जाग्रत कराया जा सके ? क्या इसी प्रकार स्वयं के कल्याण करने के अलावा भी कोई अन्य है जिसका कल्याण कराया जा सकेगा ? अत: अपने को जान शान्त हो बैठो ।

प्रश्न-८७ : कौन जप श्रेष्ठ है ?

उत्तर : मैं कौन हूँ ? यह विचार मन में उठाना ही सर्वश्रेष्ठ जप है । श्रुति वाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' का तात्पर्य अपनी स्थिति से है; मन की वृत्ति से नहीं केवल लगातार मन्त्र जाप से कोई ब्रह्म नहीं बन सकता । इसका भाव

यही है कि ब्रह्म अन्यत्र नहीं है। ब्रह्म अन्य नहीं है। वह तुम्हारी आत्मा है। वह तुम हो। इस आत्मा को ब्रह्म स्वरूप ही जानो 'अयमात्मा ब्रह्म' इस देह में छिपे मैं आत्मा को खोज लो, ब्रह्म प्राप्त हो जायेगा। ब्रह्म तक पहुँचने का प्रयास इस प्रकार मत करो जैसे ब्रह्म किसी बहुत दूर स्थान पर है।

किसी को 'शिवोऽहम्' अथवा 'अहम् ब्रह्मास्मि' का ध्यान करने की कोई आवश्यकता नहीं। इस महत्व को खोज कर इसे समझना, जानना आवश्यक है। ध्यान, चिन्तन सदा अन्य का होता है। शब्दों का जप, मनन, ध्यान ही पर्याप्त नहीं है। जप, ध्यान, वृत्ति तो मन को अन्य विचारों से हटा एकाग्र करने हेतु है। केवल देहाभिमान को नष्ट करना ही आत्म साक्षात् आत्मोपलब्धि, अथवा मुक्ति है।

'अहं ब्रह्मास्मि' विचार-मात्र है। यह कौन कहता है? स्वयं ब्रह्म तो ऐसा नहीं कहता, फिर उसे ऐसा कहने का क्या प्रयोजन? वास्तविक मैं अर्थात आत्मा भी ऐसा नहीं कह सकता है। तब यह विचार किसका है? समस्त संकल्पों की उत्पत्ति नकली 'मैं' से अर्थात् अहम् भाव से है। नकली मैं जीव के मूल को खोजोगे तो वास्तविक मैं ही पकड़ में आवेगा। जो अवशेष रहेगा वह वास्तविक ''मैं'' है। यही आत्मा है। 'अहं ब्रह्मास्मि' महामन्त्र महावाक्य मन एकाग्र होने का साधन है। यह मन को अन्य अनात्म संकल्पों को दूर करता है। अब देखो कि यह विचार किसका है? तब पता चलेगा इसका उद्गम अहम् भाव से है। अहम् भाव का उद्गम कहाँ से है? इसकी शोध करो अहम् भाव नष्ट हो जावेगा। परम तत्त्व आत्मा स्वयं प्रकाशित हो उठेगी। अन्य किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं है।

जब केवल वास्तविक 'मैं' अवशेष रहेगा तब वह 'अहम्

ब्रह्मास्मि' नहीं कहेगा । क्या स्वयं शिव बारम्बार यह कहेगा कि "शिवोऽहम्", "शिवोऽहम्" । क्या कोई दूसरा व्यक्ति है जो तुमसे पूछ रहा है कि तुम कौन हो ? बिना किसी के पूछे शिवोऽहम्', सोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि रटना उच्चारण करना पागलपन ही होगा । भला कोई ऐसा जप करेगा कि मैं मनुष्य हूँ, मैं मनुष्य हूँ । ऐसा कहना तो तभी उचित होगा जब कोई उसे चुनौती दे कि तुम मनुष्य नहीं, तुम आदमी नहीं । क्या कभी कोई भूल से अपने को पशु मानता है ? नहीं । क्योंकि वह मनुष्य ही है । इसी प्रकार एक मात्र मैं "ब्रह्म" से पृथक् चुनोती देने वाला कोई नहीं कि तू जीव है तब यह जप करने की भी क्या जरूरत की मैं शिव हूँ, मैं ब्रह्म हूँ । मैं मनुष्य हूँ यह विचार है तो जीव के देहभाव को काटने हेतु ही शिवोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि वृत्ति की जरूरत है अन्यथा नहीं ।

सोऽहम् का भी मनन क्यों किया जाये ? स्वयं ही है जैसे मैं मनुष्य हूँ का भी मनन क्यों किया जावे मनुष्य के द्वारा । वह मनुष्य ही है । इसी प्रकार जीव वस्तुत: वही है अर्थात् शिव ही है फिर शिवोऽहम्, सोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि जप या मनन की भी क्या जरूरत है । सन्देह वान व्यक्ति ही जप करेगा ।

'गरुड़ोऽहम्' भावना द्वारा मानव गरुड़ तो नहीं हो जाता, किन्तु, सर्प दंश का प्रभाव नष्ट हो जाता है । ऐसा ही 'शिवोऽहम्' भावना के सम्बन्ध में भी यही है कि कोई जीव का शिव के रूप में परिवर्तन तो नहीं होता बल्कि अन्य सभी अनात्म अहंकार के विनाश कारी, अधोगति देने वाले प्रभाव नष्ट हो जाते हैं ।

जो व्यक्ति बिना प्रयास आत्म निष्ठा में उसी प्रकार रह सके जैसे मैं मनुष्य हूँ तब उसे सोऽहम्, शिवोऽहम् ध्यान की आवश्यकता नहीं रहती यह सर्वोत्तम स्थिति है । यदि साधक इस सहजावस्था में न रह सके तो

ऐसा विपर्यय वृद्धि वाला जप या ध्यान करे। जप मन को एक विचार पर टिकाने में सहायता प्रदान करता है। जप या ध्यान द्वारा विभिन्न विचार, संकल्पों का शमन हो एक ही वृत्ति बनने लगती है। जप का उद्देश्य विक्षिप्त मन को शान्त करने में है न कि मोक्ष दिलाने या आत्मानुभूति कराने में। आत्मोपलब्धि तो विचार द्वारा ही होगी, करोड़ों कर्मों द्वारा नहीं। शांन्ति ही आत्म साक्षात्कार है। शान्ति भंग मत होने दो। शान्ति हमारा वास्तविक स्वरूप है। यह प्राप्तव्य वस्तु नहीं।

वस्तु सिद्धि विचारेण न किंचित् कर्म कोटिभिः

प्रश्न-८८ : भक्तों को रोमांच, गदगद स्वर, आनन्दाश्रु क्यों होते हैं ?

उत्तर : यह सब मन की अपने इष्ट के संयोग अथवा वियोग चिन्तन के फल स्वरूप प्रकट लक्षण है। बिना द्वैत भाव के यह स्थिति उत्पन्न नहीं होती। द्वैत भाव ही भय को प्रदान करने वाला कहा गया है '**द्वितीयात् वै भयं भवति**'।

ज्ञान समाधि पूर्ण शान्ति की अवस्था है पूर्ण एकत्व की अवस्था है। जहाँ इन सात्विक भावों के लिये कोई स्थान एवं महत्व नहीं। समाधि से बाहर आने पर साधक उस अवस्था के अनुभव का स्मरण करता है तब ये लक्षण प्रकट होते हैं। व्यक्तित्व के पूर्णतया नष्ट होने पर ये लक्षण नहीं रहते। यदि भक्त में व्यक्तित्व का तनिक भी लेश होगा तो ये लक्षण प्रकट होंगे।

प्रश्न-८९ : जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्था में कौन श्रेष्ठ है ?

उत्तर : अवस्थाओं में कोई उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट नहीं है। सुषुप्ति, स्वप्न, जाग्रत, ध्यान तथा समाधि अवस्था में तुम ही एक सत्य हो। यह

सभी अवस्था तुम्हारे बिना कुछ नहीं है जबकि तुम इन अवस्थाओं के बिना भी हो ।

सुषुप्ति अवस्था में संसार का अभाव एवं सहज आनन्द बना रहता है । वहाँ कोई शोक, भय, दुःख नहीं है । अभाव, भय, शोक तथा दुःख यह जाग्रत में या स्वप्न अवस्था में मन को ही रहते हैं । तुम दोनों अवस्थाओं में एकरस द्रष्टा, साक्षी, आनन्द स्वरूप ही हो । तब आनन्द में अन्तर क्यों हो गया ? अब जाग्रत में मन उदय हो गया । यह मन अहंकार, अहम् भाव से उदय होता है । और अहम् भाव नकली में शुद्ध चैतन्य (मैं) से उदय होता है । यदि मनुष्य साक्षी भाव में रहे तो सदा प्रसन्न रहेगा ।

जाग्रत स्वप्न सुषुप्तादि प्रपंच यत्प्रकाशते ।
तद् ब्रह्माहमीति ज्ञात्वा सर्व बन्धे प्रमुच्यते ।।

- १९ कैवल्योपनीषद

ज्ञानी अपने को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मुर्च्छा, ध्यान समाधि इन समस्त प्रपंच का साक्षी आत्मा रूप से जानता है । अज्ञानी के लिये ही जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, ध्यान समाधि आदि अवस्थाऐं सत्य है । ज्ञानी देह नहीं वह तो सबका आत्मा है ।

सुषुप्ति अवस्था का आनन्द परिच्छिन्न है किन्तु ज्ञानी की आनन्द स्थिति नित्य एक रस रहती है । सुषुप्ति चेतन अवस्था नहीं है वहाँ कुछ पता नहीं चलता जबकि आत्मनिष्ठ ज्ञानी सर्वदा चेतन है ।

सुषुप्ति से जाग्रत अवस्था में प्रवेश करते समय 'अहं' भाव का उदय होता है । मन सक्रिय हो जाता है । संकल्प उत्पन्न होने लगते हैं । पश्चात् दैहिक क्रियाएँ प्रारम्भ होने लगती है । सुषुप्ति में समस्त का अभाव रहता है । यह अवस्था जाग्रत, स्वप्न अवस्था की अपेक्षा चेतना के

अधिक सन्निकट है ।

प्रश्न-९० : क्या ईश्वर, जीव, जगत् सत्य है ?

उत्तर : सत्य तीन नहीं होते हैं, सत्य तो एक ही है । यदि सब सत्य होते तो सुषुप्ति अवस्था में भी उसी प्रकार रहते जैसे आत्मा रहता है । ईश्वर का यह विचार केवल जाग्रति में ही रहता है । यह सब नकली 'मैं' जीव की कल्पनाएँ हैं । यह सब जाग्रत अवस्था में अहम् भाव के उदय होने पर ही उदय होते हैं । गहन निद्रा में इनका विचार उदय नहीं होता । गहन निद्रा में तुम थे तथा वही तुम अब बोल रहे हो । यदि ये भेद यथार्थ होते तो सुषुप्ति में भी होते । ये भेद प्रतीतियाँ केवल अहम् भाव पर आधारित है । फिर क्या जीव, जगत्, ईश्वर तुम से कहता है कि मैं जगत् हूँ, ईश्वर हूँ ? क्या देह कहती है मैं हूँ ? तुम कहते हो यह जगत् है । यह शरीर है । यह देवता है । यह माया है । इस प्रकार यह समस्त तुम्हारे मन की कल्पनाएँ है । तुम स्वयं को पहचानलो कि तुम कौन हो ? फिर समस्त संशय दूर हो जावेंगे ।

प्रश्न-९१ : एक आत्मा सत्य है फिर जड़-चेतन भेद क्यों ?

उत्तर : प्रारम्भ में ही व्यक्ति को यह समझा देना आवश्यक है कि तुम यह शरीर नहीं हो, क्योंकि अज्ञानावस्था में वह समझता है कि मैं केवल शरीर ही हूँ । जबकि शरीर तो उसके रहने का घर मात्र है । इसलिए प्रथम उसे जड़, चेतन का भेद समझाना आवश्यक है यह विवेक कहलाता है । यह प्रारम्भिक विवेक अन्त तक बना रहना आवश्यक नहीं है । इस भेदज्ञान का प्रयोजन केवल देह के अहंकार को ही नष्ट करना है । तुम आत्मा सदा मुक्त हो । यहाँ एक चैतन्यात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है ।

ज्ञानी की दृष्टि में आत्मा से परे (भिन्न) कुछ भी नहीं है । सब आत्मा में है । यह अनुमान मिथ्या है कि जगत् है, उस में एक शरीर है तथा उस शरीर में तुम निवास करते हो । यदि एक सत्यात्मा को जान लिया तो जगत् तथा उसके परे जो भी है केवल आत्मा में ही प्रतीत होता है । तुम्हारा जन्म-नहीं हुआ यह जानना ही मोक्ष है । शान्त रहो और जानो कि मैं परमात्मा हूँ । तुम देह नहीं हो । तुम शुद्ध ज्ञान स्वरूप हो ।

प्रश्न-९२ : अहंकार का नाश कैसे हो ?

उत्तर : सुषुप्ति की अवस्था का स्मरण करो । क्या तुम्हें कुछ होने का बोध था ? यदि धन, पुत्र, मित्र, देव, जगतादि सत्य होते तो सुषुप्ति में भी यह सब प्रंपच तुम्हारे साथ अभी की तरह रहना चाहिये था किन्तु सुषुप्ति में तुम्हारे अस्तित्त्व के अलावा इनका कोई चिन्ह, स्मरणादि भी नहीं था । तुम इस बात को भी स्वीकार करते हो कि सुख रूप वहाँ मैं था एवं दुःख रूप दृश्य जगत् का वहाँ कुछ भी पता नहीं था । अब यहाँ क्या अन्तर पड़ गया ? अब यहाँ उस सहज सुख में अहंकार बाधा बन गया । जाग्रत अवस्था में यह नूतन वस्तु उदय हो गई । सुषुप्ति में अहंकार का अस्तित्त्व नहीं था । अहंकार का जन्म ही जीव का प्राकट्य है, व्यक्ति का जन्म है । अन्य किसी प्रकार का जन्म नाम की कोई वस्तु नहीं है । जिसका जन्म है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है । अहंकार को मार दो फिर न जन्म होगा न मृत्यु भय रहेगा । अहंकार का जो प्रकाशक शेष आत्मा है यही आनन्द है । यही अमरत्व है । यही तुम हो ।

प्रश्न-९३ : अहंकार का उदय कैसे हुआ ?

उत्तर : अहंकार है ही नहीं । अंधकार का उदय कैसे हुआ यदि कोई पूछे तो कहना होगा कि अंधकार कुछ है ही नहीं केवल प्रकाश का अभाव । प्रकाश होते ही अन्धकार का लोप हो जाता है । प्रकाश को

प्रकटाना होता है अन्धकार को भगाना नहीं पड़ता । इसी प्रकार आत्म भाव को प्रकटाना है । फिर अहंकार स्वयं लुप्त हो जावेगा । अविद्या, अहंकार आत्म ज्ञान के न होने की अवस्था का नाम है । अत: देहभाव कर्ताभाव का आत्म भाव द्वारा विलय करो । अहंकार है नहीं ।

हमारे समस्त दु:खों का कारण देहभाव है । यह धारणा त्याग करदो कि ''मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ'' ।

जब मैं को केवल मैं रूप माना जाता है तब अहंकार का नाम भी नहीं रहता है, जैसे सूर्य के सम्मुख अन्धकार कभी नहीं रहता । जब मैं को मैं रूप न जान, मैं को यह रूप या वह रूप मान लिया जाता है, उपाधिवान बना लिया जाता है, यही अहंकार कहलाता है । आत्म निष्ठा के द्वारा केवल देह भाव को नष्ट करना है ।

प्रश्न-९४ : भय, शोक, संशय का क्या कारण है ?

उत्तर : जब तक आत्म साक्षात्कार न हो तब तक सन्देह, भय, शोक व्यक्ति के मन में होना स्वाभाविक है ।

अहंकार ही इनका जनक है । अहंकार का निवारण ही इनका निवारण है । अहंकार स्वयं असत्य है । अहंकार क्या वस्तु है इसका अनुसन्धान करो । देह जड़ है इसलिए मैं रूप अहंकार नहीं कर सकती । आत्मा शुद्ध अद्वैत, एवं चैतन्य है, वह भी मिथ्या अहंकार नहीं कर सकती । सुषुप्ति में कोई मैं पने का अहंकार नहीं करता । अब यह अहंकार सुषुप्ति की निष्क्रिय देह तथा आत्मा के मध्य की कोई मिथ्या वस्तु ही है । इसके अस्तित्त्व का कोई आधार नहीं है इस अहंकार के मूल की खोज करते हैं तो यह ऐसे लुप्त हो जाता है जैसे प्रकाश होते ही अन्धकार लुप्त हो जाता है ।

प्रश्न-९५ : आत्मा अधिष्ठान एवं जगत् अध्यस्त क्यों कहाजाता है ?

उत्तर : चलचित्र में परदे पर विभिन्न घटना के चित्र प्रक्षिप्त होते हैं। किन्तु चलचित्र में दिखाई पड़ने वाली बाढ़ के पानी से एवं नगर में लगी प्रचण्ड अग्नि के द्वारा परदे पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। न जल से वह परदा भीगता है न अग्नि से वह जलता ही है। दर्शक भी चित्र देखते है किन्तु चित्रपट एवं बिजली की उपेक्षा किये देखते रहते हैं । वे समस्त चित्र, बिजली, प्रकाश एवं चित्रपट से पृथक् नहीं होते। तथापि परदा एवं प्रकाश ओझल हुआ रहता है एवं अध्यस्त चित्र सत्य से उस अधिष्ठान परदे पर प्रतिबिम्बत होते दिखाई पड़ते रहते हैं।

इसी प्रकार आत्मा परदा है जिसपर जगत् चलचित्र चल रहे हैं, क्रियाएँ हो रही है। मनुष्यों को देह संघात् की क्रियाओं का तो बोध होता है किन्तु सर्वाधार आत्मा का नहीं। तथापि समस्त दृश्य आत्मा से पृथक् नहीं है। समस्त क्रियाएँ आत्मा की शक्ति द्वारा ही होती रहती है।

अज्ञानी व्यक्ति, ज्ञानी के देह संघात की क्रियाएँ होते देख भ्रमित होता है। क्रियाएं व्यवहार ज्ञानी-अज्ञानी दोनों से होता है। किन्तु दोनों का दृष्टिकोण भिन्न है।

चित्रपट पर चित्र चलते रहते हैं, उन्हें पकड़ो तो वे पकड़ में आते नहीं, दिशा बदलो तो वे बदल नहीं सकते। चित्रों का समाप्त होने पर भी वही पर्दा पकड़ में आता है। यहाँ भी ऐसा ही है। जगत् भासित हो रहा है। यह देखो कि जगत् किसे भासित हो रहा है ? जवि रूप इस मिथ्या 'मैं' के आधार सत्यात्मा को पकड़लो। आधार को ग्रहण करलेने के बाद जगत् भासित होता है या नहीं इसमें क्या अन्तर पड़ता है ? कुछ भी नहीं।

लोग ध्यान करते हैं, दृष्टि को भ्रुमध्य में केन्द्रित कर देते हैं किन्तु

द्रष्टा को दृष्टि से ओझल कर दिया जाता है । द्रष्टा को निरन्तर दृष्टि में रखा जाना ही उचित है । अज्ञानी जगत् को सत्य मानता है जबकि ज्ञानी केवल आत्मा की अभिव्यक्ति मानता है ।

द्रष्टा, दर्शन तथा दृश्य रूप त्रिपुटी सब उसी चैतन्य अर्थात् निजी अस्तित्त्व की अभिव्यक्ति है ।

प्रश्न-९६ : ज्ञानाग्नि से प्रारब्ध कर्म क्यों नहीं जलते हैं ?

उत्तर : सर्व कर्म भस्मसात् हो जाना ही ज्ञानाग्नि का चमत्कार है । ज्ञानी वह जो अपने को देह से पृथक् आत्मा जानता है । अब आत्मनिष्ठ ज्ञानी के लिये न प्रारब्ध है न संचित् न क्रियमाण कर्म हैं ।

प्रारब्ध नष्ट नहीं होते संचित-क्रियमाण नष्ट होते हैं यह कहना तो ऐसा ही कहा जावेगा जैसे किसी पुरुष की तीन पत्नियाँ हो एवं पुरुष मर जावे तो क्या ऐसा कहा जा सकेगा कि दो पत्नी विधवा है किन्तु एक सधवा है । नहीं तीनों ही विधवा कहलावेंगी । इसी प्रकार ज्ञानाग्नि द्वारा तीनों प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते हैं । जब ज्ञान हो जाने के बाद वहाँ कोई कर्ता-भोक्ता ही नहीं तब प्रारब्ध किसके लिये बचा रहेगा, कौन उसे भोग करेगा ? ज्ञानी के लिये आत्मा से पृथक् न देह है न कर्म है न कर्ता न भोक्ता वह केवल साक्षी है ।

ज्ञान होने पर भी प्रारब्ध बच रहता है । यह समाधान ज्ञानी के लिये नहीं बल्कि उन अज्ञानी लोगों को है जिन की दृष्टि में ज्ञानी का शरीर एवं भोग दृष्टि गोचर हो रहा है । उन्हें कहा जाता है कि जिन कर्मों के लिये यह देह जीव को प्राप्त हुआ है उन्हें भोग कर यह देह समाप्त हो जावेगी । जैसी अग्नि लकड़ी को जलाकर स्वयं भी शान्त हो जाती है ।

पर क्या जीव के अलावा कोई शरीर किसी कर्म का कर्ता था या

भोक्ता होगा ? जीव ही कर्ता था वही भोक्ता होता है । किन्तु सद्गुरु द्वारा ज्ञान प्राप्त हो जाने पर जीव भाव ही का ब्रह्मभाव में विलय हो जाता है । अब न बचा कर्ता न बचा भोक्ता । देह सूखे पत्ते या पके फल वत् कालकी प्रतिक्षा में है, समय पाकर गिर जावेगा ।

प्रश्न-९७ : क्या पुनर्जन्म से बचने का कोई उपाय है ?

उत्तर : हाँ ! यह मालूम करो कि जन्म किसका होता है । तथा वर्तमान जीवन में दु:ख कौन भोगता है ? जब तुम सुषुप्ति में होते हो तब क्या तुम्हें पुनर्जन्म अथवा वर्तमान जीवन का विचार आता है ? अत: वर्तमान की समस्या के मूल को खोजो और वही समस्या का समाधान भी है । तुम्हें यह स्पष्ट हो जायगा कि न जन्म है न वर्तमान के दु:ख व क्लेश । केवल तुम आत्मा हो । परमानन्द स्वरूप आत्मा अभी यहाँ अजन्मा रूप से ही विद्यमान है । वास्तव में हम इस शुद्ध बोध से पुनर्जन्म से मुक्त हो जाते हैं ।

प्रश्न-९८ : दु:ख से कैसे छूटे ?

उत्तर : जिसे तुम स्वीकार कर लेते हो उससे पार निकल जाते हो । फिर वह तुम्हें रोक नहीं सकेगा दु:खी नहीं कर सकेगा । बांध नहीं सकेगा । सुखी वही होगा जो दु:ख से बचना चाहता है एवं जो सुख चाहता है वही दु:खी होगा । किन्तु जो सुख-दु:ख आदि इन समस्त द्वन्द्वों का साक्षी हो गया है उसे सुख-दु:ख, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष, जन्म-मृत्यु स्पर्श नहीं कर सकेंगे ।

सुख-दु:ख पूर्वकृत कर्मों का परिणाम है, वर्तमान कर्म का नहीं । सुख-दु:ख क्रमानुसार आते हैं । समझदार व्यक्ति को बिना अधैर्य हुए आते, जाते देखते रहना चाहिये । धैर्य सहित देखते रहना या भोग लेना

चाहिये । मनुष्य को सदा आत्म निष्ठ ही रहना चाहिये । निष्काम भाव से कर्म करते हुए उसके परिणाम की चिंता नहीं करना चाहिये । यदा-कदा प्राप्त दुःख-सुख से अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होना चाहिये ।

सुख-दुःख मन का धर्म है । हमारा स्वभाव आनन्द है । किन्तु हमने अपने आनन्द स्वरूपात्मा को भुला कर देह, इन्द्रिय, प्राण एवं मन बुद्धि दृश्य देह संघात को अपना स्वरूप भ्रान्ति से मान लिया है । यह देह, इन्द्रिय, मन ही मैं (आत्मा) हूँ यह भ्रान्त स्वरूप निर्धारण ही जीव के समस्त दुःखों का मूल है ।

प्रश्न-९९ : अखण्डानन्द कैसे प्राप्त हो ?

उत्तर : यह आत्मा अखण्ड, पूर्णानन्द स्वरूप ही है । यही तुम्हारा स्वरूप है । आनन्द पदार्थों से प्राप्त होने वाली वृत्ति अथवा अवस्था विशेष नहीं है । दुःख का निवारण हमारा लक्ष्य है । आनन्द की प्राप्ति नहीं करना है । क्योंकि तुम्हारा स्वरूप ही आनन्द है । आनन्द की नवीन प्राप्ति नहीं करना है । जो कुछ करना है वह दुःख निवारण हेतु ही करना है । आनन्द यदि नूतन प्राप्तव्य वस्तु होगा तो फिर वह नित्य नहीं होगा । नित्य तो शाश्वत है आज, अभी बिना प्रयास के है ''सहज सुखराशि'' आनन्द की इच्छा अपूर्णता के भाव से होती है । तुम निरन्तर पूर्ण आनन्द स्वरूप हो । गहन निद्रा में तुम सानन्द थे । अब तुम वैसे नहीं हो तो क्यों ? उस एवं इस अवस्था में कौनसी बाधा उत्पन्न होगई ? वह बाधा देहाभिमान की है, देह अहंकार की है । उसके मूल को खोजो एवं जानलो कि तुम आनन्द हो ।

आनन्द स्वरूप होकर आनन्द की इच्छा अज्ञान के कारण जीव को हो रही है । जीव के मूल को खोजो वहाँ तुम ही आनन्द स्वरूप आत्मा अपने को पाओगे । तुम यहाँ अभी ही आनन्द स्वरूप हो । अहंकार के स्रोत को खोजो तो आत्मा प्रकट होगी । सर्वत्र केवल उसीकी सत्ता है, वह

नित्य है और वह तुम हो । मैं अभी आनन्द रहित हूँ इस भ्रान्ति का तत्काल निवारण करो तुम अपने को अभी यहाँ बिना कोई साधन के आनन्द स्वरूप ही पाओगे ।

प्रश्न-१०० : ज्ञानी व अज्ञानी के जीवन चरित्र में क्या भेद है ?

उत्तर : आचरण में ज्ञानी अज्ञानी समान है । अन्तर उनके दृष्टि कोण में है । अज्ञानी देह, इन्द्रिय के कर्मों को अपने मान बैठता है । जबकि ज्ञानी का अहंकार, कर्ता-भोक्ता का क्षय हो चुका है एवं वह इस तथा उस देह से, इस घटना या उस घटना से स्वयं को मुक्त रखता है ।

ज्ञानी का मन बन्जर भूमी के तुल्य होने से वह कर्म बीजों को ग्रहण नहीं करता । इसलिए ज्ञानी द्वारा हुए कर्म निर्बीज होते हैं । वास्तव में वह स्वयं अकर्ता-अभोक्ता ही होता है किन्तु अज्ञानी की दृष्टि में वह कर्म करते हुए फल भोगते हुए प्रतीत होता है ।

ज्ञानी को खाता, चलता, सोता, जागता, बात करता, कर्म करता हुआ देखकर उसे क्रियाशील नहीं जानना चाहिये । वह स्वयं इन क्रियाओं के अहंकार से मुक्त रहता है । अन्य अज्ञानी व्यक्ति उसे क्रियारत देखते हैं । किन्तु वह सब क्रियाओं को देह संघात् की ही जानता रहता है आत्मा की नहीं । ज्ञानी ब्रह्म है बस इतना जानो ।

ज्ञानी जीवित ही मुक्ति का अनुभव कर लेता है फिर उसके जीवन लीला का कोई महत्व नहीं कि वह कैसे, कहाँ और कब अपने शरीर का त्याग करता है । कोई ज्ञानी जीवन पर्यन्त कर्म में रुचि रखता है, कोई कर्म उपासना का त्याग कर देते हैं तो कोई भयंकर कष्ट से पीड़ित हो प्राण छोड़ते प्रतीत होते हैं । कोई दुर्घटना में शरीर त्यागते दिखाई पड़ते हैं, कोई जीवित समाधि ले लेते हैं, कोई मृत्यु से पूर्व शरीर से ओझल हो जाते हैं

। पर इससे उनके ज्ञान में कोई अन्तर नहीं पड़ता । इस तरह के कष्टों का आभास अज्ञानी दर्शक को ही होता है ज्ञानी को नहीं ।

अज्ञानी गीले नारियल की तरह होता है जबकि ज्ञानी का जीवन सूखे नारियल की तरह असंग रहता है । उसे देह के किसी भी प्रकार के व्यवहार, अवस्था प्रभावित नहीं कर पाती ।

प्रश्न-१०१ : ज्ञानी की कैसी मनोदशा होती है ?

उत्तर : देहात्म बुद्धि जब तक बनी है तब तक वह अज्ञानी ही है । लेकिन देहात्म बुद्धि से परे होने पर वह मनुष्य ज्ञानी बन जाता है । इस देहात्मबोध के बिना न कर्तृत्व है, न कर्ता । अत: ज्ञानी का देहभाव एवं कर्तृत्व भाव नष्ट हो जाने से ज्ञानी का कोई कर्म नहीं । यह उसका अनुभव है । अन्यथा वह ज्ञानी नहीं है ।

अज्ञानी मनुष्य ज्ञानी के देह, इन्द्रियों की क्रियाओं को देख उसके साथ जोड़ देते हैं अर्थात् ज्ञानी को कर्म करते हुए देखता है । जबकि ज्ञानी अपने शरीर सहित जगत् से अपने से पृथक् मानता है । क्योंकि अज्ञानी, ज्ञानी के देह संघात् को सक्रिय देखता है । अर्थात् अज्ञानी अपने देह, प्राण, मन इन्द्रियकी तरह उस ज्ञानी को भी कर्ता भोक्ता जानते हैं ।

प्रश्न-१०२ : जब सभी एक आत्मा है तब ज्ञानी का उपयोग ?

उत्तर : ज्ञानी का यही उपयोग है कि वह अज्ञानियों को यह स्मरण करा दे कि

'जाको तू खोजत फिरे सो तू आपही ब्रह्म'

तुम साक्षात् आत्मा हो । साक्षात्कार तुम्हारे लिये कर्तव्य नहीं है । तुम्हें साक्षात्कार नहीं हुआ है, इस भ्रान्ति को दूर कराने में ज्ञानी का जगत् में उपयोग है । ज्ञानी किसी को भी अज्ञानी नहीं मानता है उसकी दृष्टि

में समस्त मुक्त-ज्ञानी है ।

प्रश्न-१०३ : क्या ज्ञानी द्वारा कर्म हो सकते है ?

उत्तर : आत्म ज्ञानी ही उत्तम कर्मयोगी हो सकता है जब कर्तापन का भाव न रहे तब देखो कि यह कर्म किसका है ? कर्म करना चाहिये अथवा न करना चाहिये इस विवाद में मत पड़ो । कर्म को स्वयं होने दो प्रकृति द्वारा, स्वयं को कर्ता मत बनाओ । शंकर ने अकर्म की बात कही किन्तु स्वयं ने भाष्य लिखे । स्थान-स्थान जाकर पंडितों को शास्त्रार्थ द्वारा, परास्त किया । जब तक कर्तापन का भाव है तब तक उसे अपने कर्मों के फलों को भोगना ही पड़ेगा । यदि वह अपने को कर्ता नहीं मानता है तो उसके लिये कोई कर्म नहीं ।

कर्मों को त्यागो मत । कर्तापन के भाव को त्यागो । कर्म स्वत: ही प्रकृति नियमानुसार श्वांस, रक्त संचार, भोजन पाचन, मल-मुत्र त्याग की तरह होते रहेंगे । अथवा अनावश्यक कर्म तुमसे छूट जावेंगे तुम उन्हें छोड़ने का अहंकार मत करो । यदि तुम्हारा प्रारब्ध प्रवृति प्रधान है तो वे कर्म जो जन्म के पहले जीव के लिये निश्चित हो चुके हैं अवश्य वे तुमसे होंगे । तुम उन्हें करना न चाहो तो भी तुम्हारा हठ कुछ नहीं कर सकेगा । यदि तुम्हारे प्रारब्ध में कर्म प्रवृति नहीं है शुकदेव, भरत, ज्ञानदेव की तरह तो तुम लाख चाहो तो भी तुमसे कर्म प्रवृत्ति नहीं होगी । जनक, राम, कृष्ण, अर्जुन, वशिष्ठादि अहंकार रहित हो कर्म करते रहते थे । यश के लिये कर्म करने वाले अज्ञानी है तथा लोक कल्याणार्थ नि:स्वार्थ कर्म करने वाले ज्ञानी संत है ।

कर्मों के करने से बन्धन नहीं होता । बन्धन का कारण मिथ्या कर्तृत्वाभिमान है कि 'मैं कर्ता हूँ' । ऐसे संकल्पों को त्यागो तथा बिना अपने हस्तक्षेप किये शरीर, इन्द्रिय, मनादि से कार्य होने दो । कर्तापन के

अभिमान से रहित हो कर्म होने से कर्म फल साक्षी को प्रभावित नहीं करेगा यही पुरुषार्थ एवं वीरता है ।

आत्मज्ञान की प्राप्ति में कर्म बाधा नहीं डालते, वह तो जीवन निर्वाह में सहयोगी है बल्कि कर्तापने का मिथ्या देहाभिमान ही इसमें बाधक है । इस मिथ्या देहाभिमान से छुटकारा पाना है ।

कर्ता कौन है ? जो कार्य कर रहा है या करा रहा है । वह मन है । तुम मन नहीं हो इसलिये कर्ता भी नहीं हो । कार्य तुम्हारी समक्ष, तुम्हारी उपस्थिति में तुम्हारे साक्षीत्व में होते हैं ।

मनुष्य स्वयं को कर्ता मानता है यह उसकी भूल है जैसे पत्थर की मूर्ति अपने कंधों पर भार लिये प्रतीत होती है । जैसे हनुमान कृष्णादि द्रोणागिरी, गोवर्धनादि पर्वत को अपने हाथ से उठाते प्रतीत होते हैं । अब यहाँ विचार करने की आवश्यकता है कि मूर्ति, मन्दिर, स्तूप तो भूमि पर बना हुआ है उसकी नीव पृथ्वी पर खड़ी है । वह मूर्ति, मन्दिर, स्तूप उस पत्थर का ही अंश है किन्तु अज्ञानी का वह मूर्ति, मन्दिर, पत्थर नीव से पृथक भार उठाये प्रतीत हो रही ही है । अथवा पृथ्वी पर रखा टेबल व टेबल पर रखा पृथ्वी को उठाये एटलस के चित्र के समान ही मानव अपने को कर्ता का मिथ्या अभिमान करता है । जबकि आत्मा की शक्ति से ही सब कर्म होते रहते हैं, क्या यह हास्यास्पद नहीं कि मोटर, ट्रेन नौका में बैठा व्यक्ति अपने सर पर रखी गठरी को नीचे नहीं रखता हो इस विचार से कि मैं अपनी गठरी का बोझ इस पृथ्वी पर या नाव पर नहीं रखूँगा अन्यथा नाव डूब जावेगी ।

'मैं कर्ता हूँ-मैं भोक्ता हूँ' यह मैं कौन है ? इसके मूल को खोजने से शुद्ध चैतन्य निष्क्रिय असंगात्मा ही अनुभव रूप, मैं रूप प्राप्त होती है तब कर्म एवं फल से परे आनन्द स्वरूप की उपलब्धि होती है । तदुपरान्त

किसी प्रयास की अपेक्षा नहीं । कारण यह है कि आत्मा सदा पूर्णानन्द है । कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता ।

प्रश्न-१०४ : जीव को आत्मा परमधाम तक पहुँचने के लिये कौनसा प्रयास आवश्यक है ?

उत्तर : जीव को आत्मा परमधाम तक पहुँचना नहीं पड़ता क्या ऐसा कोई क्षण है जब जीव आत्मा नहीं है ? यह आत्मा परमधाम नवीन वस्तु नहीं है । तुम स्वयं ही आत्मा परमधाम हो । जो नवीन है वह स्थायी नहीं हो सकता । जो सत्य है वही सनातन है । आत्मा तक पहुँचने हेतु भ्रूमध्य में ध्यान नहीं करना पड़ता । भ्रूमथ्य में ध्यान तो केवल एकाग्रता हेतु बताया जाता है ।

कुछ भी अनुभव करने जैसी आत्मा नवीन वस्तु नहीं है । यह तुम्हारा अपना होना है । यह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त तुम्हारी वह अवस्था है जिसे तुमने कभी खोया नहीं । इसके विपरीत मनुष्य को सत्य पाने हेतु अपने अज्ञान को ही त्यागना है बस इतना ही करना है ।

प्रश्न-१०५ : ईश्वर दर्शन का क्या रहस्य है ?

उत्तर : ईश्वर के रूप का ध्यान एवं दर्शन भक्त के मन की कल्पित मूर्ति है वह यथार्थ सत्य नहीं है । जीव कल्याण की प्रारम्भिक साधना है अन्तिम अवस्था नहीं है । भक्त के मन के द्वारा मानसिक निर्धारित मूर्ति का ध्यान मन की एकाग्रता एवं अन्तर्मुख अवस्था में होता है । यह ध्यान स्वप्नावस्था के समान है । स्वप्नावस्था का कोई लाभ-हानि जाग्रत में नहीं मिलता । उसी प्रकार ध्यान में प्राप्त दर्शन ज्ञान में आजाने पर स्वप्नवत मिथ्या ही हो जाते हैं। ईश्वर दर्शन के बाद आत्म विचार प्रारम्भ होता है जिसका परिणाम आत्मा का साक्षात्कार है । अत: विचार ही अपने कल्याण

का अन्तिम मार्ग है ।

यदि भक्तों के ईश्वर दर्शन तुम आत्मा की तरह अस्तित्त्ववान होता तो सुषुप्ति में भी तुम्हारी तरह सत्ता रूप से विद्यमान रहता । ईश्वर का यह विचार एवं दर्शन, ध्यानादि जाग्रत में ही होता है सुषुप्ति में नहीं ।

आश्चर्य है कि भक्त सर्वत्र एवं सभी में ईश्वर को मानता एवं श्रद्धा करता है; किन्तु अपने में नहीं । ईश्वर जब नित्य, व्यापक एवं पूर्ण है तो फिर क्या वह तुम्हारे रूप में यहाँ और अभी नहीं है ? यदि सब ईश्वर है, परमात्मा है, आत्मा है, राम, कृष्ण आदि है तो फिर तुम ईश्वर हो इसमें सन्देह ही क्या ? न चाहने, न मानने पर भी तुम आत्मा होने से बच कैसे सकते हो; क्योंकि आत्मा अखण्ड एवं सर्वव्यापक है ।

जब तक तुम अपने को जीव मानते हो तब तक तुम अपने से पृथक् किसी ईश्वर की सत्ता को मानते रहते हो ।

साकार या निराकार ईश्वर पूजा करने पर ईश्वर गुरु रूप में प्रकट होता है । फिर गुरु की सेवा करने से वह आत्मा रूप में अभेद रूप में 'सोऽहम्' रूप में प्रकट हो जाता है ।

यह सब ''वासुदेव'', ''ब्रह्म'', ''सियाराम'' है इस वैदिक सत्य सिद्धान्त को हमने भुला दिया है । इसी कारण हम परमात्मा के साथ में तादात्म्य नहीं कर पाते हैं जो कि वास्तविकता है । और जो हम नहीं इस मिथ्या शरीर में हम तादात्म्यता करने में कभी संशय तक नहीं करते । विचारो ! अब हम कहाँ हैं ? क्या परमात्मा से अलग कोई वस्तु, स्थान, काल में हम विद्यमान होकर यह कहने का दु:साहस करते हैं कि 'मैं तो दास हूँ, मैं तो भक्त हूँ, 'मैं भगवान नहीं हूँ' । दृश्य संसार सभी एक परमात्मा ही हैं । ज्ञान न होने तक यह भेद भाव अज्ञानी, भक्त एवं कर्मियों को बना ही रहता है ।

ईश्वर सत्य है तो तुम्हारी सुषुप्ति अवस्था में क्यों नहीं प्रकट होता । तुम अब भी वही हो जो सुषुप्ति अवस्था में थे । तुम्हारी सत्ता में कोई न्युनाधिकता नहीं हुई ।

प्रत्येक को यह बोध है कि ''मैं'' हूँ । 'मैं ब्रह्म हुँ' इस बोध को विस्मृत कर मनुष्य ईश्वर की खोज, ईश्वर दर्शन करने का मिथ्या प्रयास कर ''मृग कस्तूरी खोज'' की तरह इधर-उधर, जल, थल, नभ स्थानों में भटकता है । भ्रुमध्य में ईश्वर विराजमान है ऐसा कहना मूढ़ता है । ईश्वर सर्व व्यापक निराकार है । मन को एकाग्र करने हेतु भ्रुमध्य में ध्यान का निर्देश किया जाता है । हठयोग द्वारा मन निरोध का एक साधन है किन्तु ईश्वर प्राप्ति हेतु नहीं ।

अज्ञानी मनुष्य ईश्वर मूर्ति के आगे नमस्कार कर लेने से यह सोच लेता है कि ईश्वर ने मेरे पिछले सब पाप क्षमा कर दिये । मेरा नमस्कार स्वीकार कर लिया तथा वह अपना जीवन पूर्ववत पापमय व्यतीत करने के लिये अपने को स्वतन्त्र मान लेता है । अपने कल्याण की इच्छा रखने वाले मनुष्य को प्रत्येक कार्य ईश्वर समपर्ण पूर्वक ही करना चाहिये । मन को निर्मल रखना ही साष्टांग दण्डवत प्रणाम है ।

प्रश्न-१०६ : क्या कोई अन्य के मन को जान सकता है ?

उत्तर : असाधारण शक्तियाँ, सिद्धियाँ परमात्मा के मार्ग में सहायक होने की अपेक्षा अधिकतर बाधक है । मृतकों के विषयों में पूछना, या मृत्यु के बाद जीव कैसे जाता है, कहाँ जाता है, तत्काल शरीर पाता है या कालान्तर में पाता है, तब तक वह कहाँ रहता है ? यह सब प्रश्न असंगत है । तथा सत्य की खोज करने वाले साधक को कभी भी ऐसे व्यर्थ के प्रश्न को नहीं करना चाहिये न ऐसी बातों को मन में महत्व देना चाहिये । यह किसी के मन को जान लेना तो निकृष्ट विद्या द्वारा नीच व्यक्तिभी कर

लेता है ।

प्रश्न-१०७ : सब जगत् ब्रह्मरूप है यह केसे जाने ?

उत्तर : तुम्हारे पास ज्ञान की दृष्टि है तो तुम सर्व जगत् को ब्रह्म रूप जान सकते हो ।

'दृष्टि ज्ञानमयी कृत्वा पश्येत् ब्रह्म मयं जगत्'

- शंकराचार्य

तुमने अपनी आत्मा को भुलाकर बाह्य विषय जगत् में सुख बुद्धि करली है । यदि तुम दृढ़ता पूर्वक आत्मभाव में स्थित हो जाओ तो तुम्हें बाह्य जगत् भासित ही नहीं होगा ।

प्रश्न-१०८ : बालक व ज्ञानी समान क्यों कहे जाते हैं ?

उत्तर : बालक को बाह्य जगत् की घटनाओं से तभी तक सम्बन्ध रहता है जबतक कि घटनाए घट रही हैं । घटना के समाप्त होने पर वह कुछ विचार नहीं करता । ज्ञानी के साथ भी ऐसा ही है । घटना घटने के बाद ज्ञानी उनसे प्रभावित नहीं होता ।

प्रश्न-१०९ : आत्म साक्षात्कार में मुख्य साधन क्या है ।

उत्तर : वेदान्त-श्रवण, मननादि साधन तो है ही किन्तु मुख्य साधन गुरुकृपा है ।

प्रश्न-११० : मुझे आत्म साक्षात्कार नहीं हो पाता है ?

उत्तर : यह विचार ही साक्षात्कार में बाधक है तुम साक्षात् आत्मा ही हो ।

प्रश्न-१११ : 'मैं कौन हूँ' इसकी अनुभूति कैसे प्राप्त की जाय ?

उत्तर : शरीर की क्रिया को तुम जानते हो इसलिए तुम शरीर नहीं । मन की अवस्था को तुम जानते हो इसलिए तुम मन नहीं मन के संकल्प कहाँ से उदय हो रहे है ? ये संकल्प बुद्धि से उत्पन्न होते है । फिर इस बुद्धि का साक्षी कौन है ? तब यह स्पष्ट हो जावेगा कि शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा उसके संकल्पों का द्रष्टा रूप से मैं साक्षी आत्मा हूँ ।

यह मैं कौन है ? इसका आगमन कहाँ से होता है । सुषुप्ति में मैं का आभास नहीं था । यह मैं जाग्रत में उदय हुआ यह मैं अहं तत्त्व है किन्तु मैं तीनों अवस्था, पंच कोष से परे हूँ यही सच्चा नित्य मैं है । समस्त अनात्म देह संघात के अध्यास का त्याग करने के बाद जो नेति-नेति का साक्षी है वह सत-चित-आनन्द आत्मा मैं हूँ ।

मन की उत्पत्ति का पता करते-करते मन लोप हो जाता है तब केवल मैं ही शेष बचता है । तब प्रश्न उठता है मैं कौन हूँ ? मैं आत्मा हूँ । यही मनन है । इस प्रक्रिया से देह भाव नष्ट हो जाता है अहंकार का लोप हो जाता है । केवल आत्मा प्रकाशित होती है ।

मन के लय करने का सरल उपाय है सत्पुरुषों का संग । जो उनके साथ रहते हैं उन्हें साक्षात्कार सहज एवं सदैव हैं । वे बिना प्रयास उनकी कृपा से आत्मानुभूति कर लेते हैं । देह भाव से जुड़ना ही द्वैत एवं आत्म भाव में दृढ होना ही अद्वैत है ।

प्रश्न-११२ : ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या फिर यह भी कहते हैं सर्वं खल्विदं ब्रह्मं इन दोनों सिद्धन्तों में क्या सत्य है ?

उत्तर : प्रथम मुख्य आत्मा की ओर साधक की दृष्टि को खींचने के लिये यह कहना पड़ता है कि जो दृश्य है सब परिवर्तनशील होने से नाशवान है । सत्य सदा रहने वाले अस्तित्त्व का नाम है । जगत् नाश रूप

है। यह सत्य नहीं हो सकता। अन्ततोगत्वा साधक 'यह नहीं', 'यह नहीं' विचार करते करते आत्मा तक जब पहुँच जाता है जिसका प्रमुख स्वभाव व्यापक एकत्व सर्वरूप है। तब पहले जिसे असत्य कहकर छोड़ दिया था, तब वह सभी आत्मा का ही बदलता अंग है। सत्य में समाहित होने से जगत् भी सत्य है। आत्म साक्षात्कार में केवल आत्मा ही रहता है फिर 'मैं यह नहीं 'कहने को कोई दृश्य जगत् नहीं रहता अन्यथा अद्वैत की सिद्धि न हो कर द्वैत ही सिद्ध हो जावेगा पूर्णबोध की अवस्था में '*ना इदं*' यह नहीं कहने को कुछ नहीं बचता है।

प्रश्न-११३ : क्या देह अन्तर्धान हो सकता है ?

उत्तर : यह केवल शारीरिक विषय है। क्या हमारा वास्तविक हित इसी बात में है ? क्या तुम अभी देह से रहित आत्मा नहीं हो ? सुषुप्ति में देह कहाँ था तुम्हारे पास ? व्यर्थ बातें न सोचो। सार वस्तु आत्म निष्ठा ग्रहण करो। पाण्डित्य पूर्ण सिद्धान्तों, सिद्धियों को व्यर्थ एवं दुःख दायी सारहीन जान छोड़ दो। जो शरीर लोप हो जाने को मुक्ति मान बैठे है वे भ्रम में है। तुम देह नहीं हो क्या यह एक प्रकार का विचार द्वारा देह का लोप नहीं है ? अब कोई दूसरी तरह लोप करे इसमें क्या फर्क पड़ता है। इन बातों का कोई महत्व नहीं है। देह अभिमान का नाश ही मुख्य वस्तु है, देह त्याग या देह का लोप करना महत्व पूर्ण नहीं है। आत्मा का देह से एकत्व मानना ही बन्धन है। अपने को देह से भिन्न आत्मा जानो। तुम देह नहीं हो बस यह जानलो यही देह का लोप होगया, जो सम्भव है उसे ग्रहण करो। जो तुम्हारे लिये सम्भव नहीं उसका क्यों विचार कर दुःखी होते हो एवं जीवन नष्ट करते हो।

प्रश्न-११४ : पुर्नजन्म से कैसे बचा जावे ?

उत्तर : यह सोचो जन्म किसका होता है ? तथा वर्तमान जीवन में

दु:ख कौन भोग रहा है ? सुषुप्ति में जब तुम होते हो तब वहाँ पुनर्जन्म अथवा वर्तमान जीवन का विचार आता है ? अत: वर्तमान की समस्या के मूल को खोजो । तुम्हें स्पष्ट हो जावेगा कि न जन्म है, न वर्तमान शरीर है न दु:ख । केवल आत्मा है वही तुम हो । तुम अखण्ड आत्मा हो यह विचार से ही पुर्नजन्म समाप्त हो जाता है ।

प्रश्न-११५ : भक्तिमार्ग एवं ज्ञान मार्ग में क्या अन्तर है ?

उत्तर : दोनों में ही व्यक्ति के देह भाव का लोप हो जाता है । ज्ञानी आत्म विचार द्वारा अपने देहभाव का त्याग करदेता है और भक्त अपने इष्ट में समर्पण भाव करके आत्म साक्षात्कार करलेते हैं । अर्थ है मैं (देहभाव) का पुरी तरह लोप । जैसे हनुमान एवं मोरा आदि ने दासोऽहम् से सोऽहम् भाव प्राप्त किया था ।

प्रश्न-११६ : पूजा क्या है ?

उत्तर : अपने व्यक्तित्व को इष्ट में खो देना ही पूजा है ।

प्रश्न-११७ : क्या मुक्ति हेतु योग एवं इष्ट उपासना की आवश्यकता नहीं ?

उत्तर : केवल मन को एकाग्र करने के अतिरिक्त योग, भक्ति, ध्यान आदि और क्या है ? एकाग्रता किसी भी प्रकार हो सकती है । किसी एक पर डट जाओ चंचलता शांत हो जावेगी किन्तु उसमें आत्म विचार जाग्रत नहीं हो सकेगा । आत्म विचार सद्गुरु द्वारा प्राप्त सत्संग से ही हो सकेगा ।

जब देह भाव हट जावे मूर्ति पूजा नहीं करना चाहिये । देहभाव है तो मूर्ति पूजा करना दोष नहीं । किन्तु देह भाव को छोड़े बिना मूर्ति पूजा मात्र से जीव का कल्याण नहीं होगा । देह भाव की निवृति केवल आत्म

ज्ञान से ही होगी ।

प्रश्न-११८ : आत्मा का चिन्तन किस प्रकार करें ?

उत्तर : आत्मा के प्रकाश में ही जीव अन्धकार व प्रकाश का अनुभव करता है । आत्मा ही जीव को दोनों का अनुभव करने का ज्ञान प्रदान करता है । वह आत्मा मैं हूँ यह हृदय में बोध हो जाना ही आत्मा ध्यान सहज समाधि है ।

प्रश्न-११९ : क्या ऐसा अनुभव करें कि 'मैं शरीर नहीं हूँ' न कर्ता हूँ न भोक्ता ?

उत्तर : क्या मैं मनुष्य हूँ हम ऐसा विचार करते हैं ? तब क्या कभी भूलते हैं ? नहीं । बस इसी प्रकार एक बार यह बुद्धि में निष्ठा पैदा करलो कि मैं आत्मा हूँ । क्या मैं मनुष्य हूँ यह विचार न करने से मैं मनुष्य शरीर वाला नहीं रहता हूँ, कुछ और बदल कर हो जाता हूँ ? तो क्या मैं आत्मा हूँ यह विचार न करने से मैं आत्मा से बदल कर अनात्मा हो जाता हूँ ? नहीं बस केवल दृढ़ आत्मनिष्ठा जाग्रत करना है ।

आत्म साक्षात्कार के साथ सभी संकल्प समाप्त हो जाते हैं । संकल्प अन्त:करण की अवस्था है और मैं उनसे भिन्न साक्षी हूँ यही साक्षात्कार है ।

प्रश्न-१२० : ज्ञानी क्या देह का लोप कर सकता है ?

उत्तर : इससे ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं बल्कि ज्ञान में बाधक है । वशिष्ठ, बाल्मिक का ऐसा प्रारब्ध था कि उन्हें ज्ञान के साथ-साथ सिद्धियाँ भी विकसित होगई थी । तुम ऐसी वस्तु की कामना क्यों करते हो जो आवश्यक नहीं, अपितु यह तो साधक के लक्ष्य प्राप्ति में बाधक है । देह के दिखाई पड़ने से या अदृश्य हो जाने से ज्ञानी को न कोई कष्ट है न

सुख । हिप्नोटिज़्म का ज्ञाता स्वयं को अदृश्य कर सकता है । क्या इससे उसे ज्ञानी समझा जा सकेगा ? भूत-प्रेत शरीर रहित अदृश्य रहते हैं, क्या उन्हें कोई ज्ञानी या अच्छा मानते हैं ? दृश्य तथा अदृश्य का सम्बन्ध द्रष्टा से है । वह द्रष्टा तुम सदा एक रस हो । अन्य व्यर्थ की बातों पर महत्व मत दो ।

सृष्टि कब कैसे हुई इस विवाद में मत पड़ो । वेद शास्त्र हमें अविनाशी आत्मा होने का 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा ज्ञान कराते हैं । हम वही आत्मा है बस इस निष्ठा को दृढ़ करो ।

यदि मन के उदय होने का मूल कारण खोजा जावे तो यह पता चलेगा कि वह सूक्ष्म मन मुझ आत्मा से ही उदय हुआ है जिसे ब्रह्म कहते हैं । अत: मन मेरे में रस्सी पर सर्प की तरह कल्पित हुआ है । रस्सी ज्ञान से सर्प भ्रम मनाश हो जाने की तरह आत्म ज्ञान हो जाने से मन भ्रम का भी-विलय हो जाता है ।

प्रश्न-१२१ : कर्म करना चाहिये या नहीं ?

उत्तर : इस विवाद में मत पड़ो । अपने आप को जानलो । तब देखो कर्म किसका है ? कर्म को स्वयं होने दो । जब तक कर्तापन का भाव है, कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ेगा । ज्ञानी अपने को कर्ता नहीं मानता है तो उसके लिये कोई कर्म नहीं रहता । श्री शंकर ने अकर्म का उपदेश किया था । किन्तु क्या उन्होंने शास्त्रार्थ नहीं किया, ग्रन्थ नहीं लिखे ? आत्मज्ञानी ही उत्तम कर्म योगी हो सकता है । कर्म का फल व्यक्ति को प्रभावित नहीं करता है, तो वह कर्म से मुक्त है । कर्मों को त्यागो मत । तुम एक क्षण भी कर्म त्याग कर, नहीं रह सकते । कर्ता पन के भाव को त्यागदो । कर्म स्वत: ही होते रहेंगे । अथवा कर्म तुमसे छूट जावेंगे । यदि प्रारब्ध निवृत्ति प्रधान शुकदेव की तरह है तो कर्म स्वत: छूट जावेंगे ।

यदि प्रारब्ध प्रवृत्ति प्रधान राजा जनक की तरह है तो कर्म होते रहेंगे । प्रारब्ध के आगे किसी का हट नहीं चलेगा कि ऐसा करूँगा, ऐसा नहीं करूँगा । जनक, वशिष्ठ अहंकार रहित होकर कर्म करते पाये जाते हैं । लोक वासनार्थ यश के लिये भी कर्म किया जा सकता है एवं लोक कल्याणार्थ निष्काम भाव से भी किया जा सकता है । सभी के प्रारब्ध भिन्न-भिन्न है । सभी ज्ञानी-अज्ञानी एक प्रकार के कर्म करेंगे ऐसी कल्पना मत करो ।

प्रश्न-१२२ : बिना गुरु के भी कल्याण हो सकता है ?

उत्तर : यह बात गुरु द्वारा ही जानी जा सकेगी । आत्म साक्षात्कार के बाद ही यह मालुम होता है कि बिना गुरु के मैं आत्म स्वरूप ही था, हूँ एवं रहूँगा । किन्तु यह शुद्ध ज्ञान गुरु द्वारा ही होता है पहले नहीं ।

बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यः
चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।

प्रश्न-१२३ : आत्मा तक पहुँचने हेतु क्या करना होगा ?

उत्तर : मैं शरीर हूँ इस भाव को सद्गुरु उपेदश, सत्संग एवं वेदान्त श्रवण, मनन द्वारा नष्ट कर देना है । तुम्हें आत्मा तक पहुँचना नहीं पड़ता तुम स्वयं आत्मा हो । बर्फ को जल तक पहुँचना नहीं पड़ता बर्फ को अपने देहाभिमान को केवल गला देना है फिर बर्फ स्वयं को जल रूप ही पावेगा । क्या ऐसा कोई क्षण है जब आप आत्मा नहीं है ? आप सदा आत्मा है किन्तु उस ओर दृष्टि नहीं है देह के साथ मिलकर आत्मा को अन्य मान कर उसे पाने, पहुँचने, जानने की भ्रान्ति उदय होगई है । यह नवीन वस्तु प्राप्त करने योग्य नहीं है, तुम ही आत्मा हो । जो साधन से आज प्राप्त होगा, जो साधन से पूर्व नहीं था वह समय पाकर फिर नष्ट भी हो

जावेगा। तुम आत्मा नित्य हो। जो सत्य है वही सनातन है। जो नवीन है वह स्थायी नहीं है।

प्रश्न१२४ : जिसे जानकर समस्त संशय निवृत्त हो जाते हैं वह क्या वस्तु है ?

उत्तर : संशय कर्ता को जान लो। यदि संशय कर्ता पकड़ में आ जावे तो संशय उत्पन्न नहीं होगें। यहाँ संशय कर्ता मन है। हमें मन के पार साक्षी पर स्थित होना है। संशय वृत्ति एवं उसके कर्ता मन में नहीं रुकना है। जब साक्षी भाव में स्थित हो जाओगे वहाँ संशय कर्ता ही नहीं रहेगा, तब संशय किसे उत्पन्न होगा ? सभी मनुष्य ज्ञान स्वरूप अर्थात् आत्मा एवं जीवन्मुक्त है। उन्हें इस वास्तविकता का ज्ञान नहीं है। संशयों को निर्मूल करना ही होगा। इसका मतलब संशय कर्ता मन की सत्ता को ही बुद्धि से निर्मूल करना होगा। यहाँ एक आत्मा से अन्य कुछ नहीं है। 'मैं कौन हूँ' इसकी खोज करने से मन ही नहीं रहेगा। संकल्प समाप्त हो जायेंगे। तब जो अनिवार्य अवशेष आत्मा है वह प्रकट हो जावेगी। जो तुम हो।

प्रश्न-१२५ : संकल्पों से परे जो चैतन्य है क्या उसकी अनुभूति सम्भव है ?

उत्तर : हाँ। चैतन्य केवल एक ही है जो जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में एकरस रहता है। सुषुप्ति में जो चैतन्य, मैं है वही वास्तविक मैं है। जाग्रत तथा स्वप्न समाप्ति तक मिथ्या मैं की उपस्थिति बनी रहती है। जिससे जाग्रत तथा स्वप्न सब स्थूल, सूक्ष्म संसार कर्म एवं भोग होते रहते हैं। सुषुप्ति में इस मिथ्या मैं का लोप हो जाता है। सुषुप्ति के असली 'मैं' का मिथ्या मैं संकल्प मात्र है। जबकि सुषुप्ति का 'मैं'ही असली मैं है। इसी की निरन्तर सत्ता है। यही चैतन्य है

। यदि इसका अनुभव हो जावे कि सब अवस्थाओं का जो साक्षी है वही मैं आत्मा हूँ । क्या कोई ऐसा है जो अपने आप को नहीं जानता हो, हर व्यक्ति स्वयं को जानता है, फिर भी आत्मा से अनभिज्ञ है ।

यदि मन की खोज की जावे तो ज्ञात होगा मन है ही नहीं, यही मन का नियन्त्रण है । इसके विपरीत यदि मन की सत्ता मान ली जाये और इसको नियन्त्रित किया जावे तो मन ही मन पर नियन्त्रणका कर्ता हो जावेगा । जिस प्रकार चोर ही सिपाही बनकर चोर को पकड़े । मन के द्वारा मन से ध्यान करना भी इसी प्रकार है ।

देह तथा आत्मा को एक मानना ही मन है । देह के साथ मिलकर जो मिथ्या अहम् उदय हुआ है यही मिथ्या दृश्यों की रचना करता है । यह सब द्रष्टा-दृष्य मिथ्या है केवल साक्षी आत्मा ही वास्तविक है । यदि मिथ्या मैं भाव मिट जावे तो सत्य की निरन्तर सत्ता स्पष्ट होगी । जैसे फिल्म हटने से पर्दे पर शुद्ध प्रकाश दृष्टि गोचर हो जावेगा । ऐसा नहीं कि फिल्म के चलते समय शुद्ध प्रकाश नहीं है । नहीं, वहां प्रकाश ही है । फिल्म चलते समय भी प्रकाश किसी दृश्य से मिलकर दूषित नहीं होता है । इसी प्रकार माया के कारण शुद्ध परमात्मा प्रतीत नहीं होता है । किन्तु ऐसा नहीं कि वह अभी यहाँ नहीं है । सत्य शाश्वत सदा विद्यमान है । प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि 'मैं हूँ' एवं कौन हूँ ? केवल आत्मा की ही सत्ता है । यह होना अथवा वह होना मेरे मन की ही उहापोह है । केवल आत्म भाव में रहो । न मन को पीड़ा दो, न किसी के मन की बात जानने की इच्छा करो । देह में अहंकार मत करो । देह तो संकल्पों का परिणाम है, प्रारब्ध समाप्ति तक यह खेल यथावत् चलता ही रहेगा । किन्तु तुम उन समस्त शुभाशुभ क्रियाओं से प्रभावित नहीं होंगे । सुषुप्ति में तुम्हारा देह से सम्बन्ध नहीं था । इसी प्रकार तुम सर्वदा देहातीत ही हो । 'मैं कर्ता हूँ'

इस मिथ्या संकल्प का त्याग करो तथा मन की क्रियाओं में बिना हस्तक्षेप किये मन एवं इन्द्रियों को अपना अपना कार्य करने दो। कर्मों के करने से बन्धन नहीं होता। बन्धन का कारण केवल यह मिथ्या अहंकार कि 'मैं कर्ता हूँ' इसी कर्तृत्वाभिमान का त्याग करो।

प्रश्न-१२६ : देह अहंकार, कर्ता अहंकार छोड़ने पर भी आत्मा की अनुभूति क्यों नहीं होती ?

उत्तर : वह कौन है जो कहता है मैं कि अनुभूति नहीं होती है। क्या एक मैं अज्ञानी है, एक मैं भ्रान्तिजनक है। क्या एक ही व्यक्ति में दो मैं है। अपने आपको यह प्रश्न कीजिये। यह तो मन है जो यह कहता है कि आत्मानुभूति नहीं होती है। यह मन कहाँ से आया ? मन के मूल को खोजो, जान लेने पर मन मिथ्या लगेगा। राजा जनक ने कहा मैंने गुरु कृपा से आज उस चोर (मन) को पकड़ लिया जिसके कारण इतने दिनों से मैं संसार बन्धन में फंसा दुःख पारहा था। यहाँ केवल अज्ञान को हटाना है। ज्ञान की प्राप्ति नहीं करना है। वास्तव में तो ज्ञान-अज्ञान आत्मा में नहीं है। ये तो सूक्ष्म शरीर में है, इन आवरणों को हटाना है अर्थात् इन में से मैं भाव हटाना है। मिथ्या मैं का साक्षी, मिथ्या मैं का अधिष्ठान आत्मा तुम नित्य सत्य हो। तुम्हारी ही शक्ति से नाना प्रकार के दृश्य उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक संकल्प के साथ एक मैं उत्पन्न होता है तथा उस संकल्प के लोप होने के साथ मैं का भी लोप हो जाता है। प्रतिक्षण अनेक संकल्प उत्पन्न होते है एवं नष्ट होते हैं। उसी अनुपात से अनेक मैं उत्पन्न होते है एवं नष्ट होते हैं। जैसे मैं रोगी, मैं निरोगी, मैं दुःखी-मैं सुखी, मैं त्यागी, मैं भोगी, मैं चोर, मैं दानी, मैं मूर्ख, मैं पंडित इत्यादि।

प्रश्न-१२७ : मृत्यु के बाद जीव का क्या होता है ?

उत्तर : इस समय जीवित जीव के लिये यह प्रश्न करना उचित

नहीं । देह रहित होकर जीव मुझ से प्रश्न करे, यदि सम्भव हो तो । अभी तो देहधारी जीव वर्तमान अपनी समस्या को हल करे, तथा यह खोजे की वह कौन है ? तब ऐसे व्यर्थ प्रश्न समाप्त हो जावेंगे ।

प्रश्न-१२८ : ध्यान व निदिध्यासन में क्या भेद है ?

उत्तर : ध्यान में किसी एक वस्तु पर मन को केन्द्रित करना होता है जबकि निदिध्यासन में आत्म विचार करना होता है । वह आत्मा में मैं की भावना करना है । 'मैं कौन हूँ' यह विचार करते रहने से अन्त में तुम अपने को आत्मा ही पाओगे । अनात्माकार वृत्ति से मन के निश्चय को हटाकर बुद्धि को आत्माकार वृत्ति में दृढ़ करना ही निदिध्यासन है । अथवा विजातिय वृत्ति का तिरस्कार एवं सजातिय वृत्ति का प्रवाह करने को निदिध्यासन कहते हैं ।

प्रश्न-१२९ : विजातिय वृत्ति एवं उनका तिरस्कार कैसे किया जाता है ?

उत्तर : अपने आत्म स्वरूप से पृथक् वृत्ति को विजातिय वृत्ति कहते हैं । जैसे स्त्री, पुरुष, हिन्दु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, संन्यासी, बालक, किशोर, युवा, प्रौढ़, वृद्ध । गौर, श्याम, लम्बा, छोटा, दुर्बल, मोटा, रोगी, निरोगी, उड़िया, मारवाड़ी, गुजराती, सुल्तानी, मुल्तानी, सिन्धी, बिहारी, बंगाली, मराठा पंजाबी, तेलगु, पिता, माता, पति, पत्नी, पुत्र, पुत्री, डायरेक्टर, चीफ इन्जीनीयर, सेक्रेट्री, कलेक्टर, मिनिष्टर, 'जन्मने-मरने वाला मनुष्य हूँ' । इस प्रकार अपने को विजातीय रूप मानना दुःख व बन्धन का कारण है ।

उपरोक्त विजातीय वृत्ति का मन से सम्पूर्ण रूप से परित्याग कर मैं यह समस्त अहंकारों एवं उपाधियों से मुक्त हूँ इस प्रकार चिन्तन करना

चाहिये ।

प्रश्न-१३० : आत्माकार वृत्ति क्या है एवं किस प्रकार इनका प्रवाह हो सकेगा ?

उत्तर : अपने आत्म स्वरूपाकार वृत्ति को सजातिय वृत्ति अथवा आत्मकार वृत्ति कहते हैं । जैसे सच्चिदानन्द, द्रष्टा, साक्षी, नित्य, शुद्ध, मुक्तानन्द, स्वयं प्रकाश, स्वयं सिद्ध, सर्वाधिष्ठान, निर्विकार, निराकार, निरंजन, निष्क्रिय, निर्गुण, अखण्ड, असंग, अविनाशी, अमृत, शिव स्वरूप मैं आत्मा हूँ ।

इस प्रकार सजातिय वृत्ति को होंश रहने तक, चेतना रहने तक चलाते रहने को सजातीय वृत्ति का प्रवाह कहा जाता है । अथवा आत्माकार वृत्ति प्रवाह कहा जाता है ।

प्रश्न-१३१ : हमारे दु:खों का कारण क्या है ?

उत्तर : जब हम अपने निष्क्रिय, निराकार, असंग आत्म स्वरूप को किसी भी अन्य भाव में ग्रहण करते हैं, तो उस प्रकृति में अहंकार कर लेने से दु:ख उत्पन्न होता है । शरीर दृष्टि को स्वीकार करने से ही सब भेद भासता है । शरीर दृष्टि हट गई तब न कुछ देखना दिखना रहा न कोई क्रिया रही । ऐसी स्थिति को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं, यही हमारी स्वत: सिद्ध स्वाभाविक स्थिति है । लेकिन जब हम इस बनी बनाई ब्राह्मी स्थिति को पुन: बनाने के पीछे पड़ जाते हैं तब हम इसे बिगाड़ने में ही लग जाते हैं ।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि प्रकृति का कार्य है एवं विषय भी इन गुणों का ही कार्य होने से गुण-गुण में बरतते रहते हैं । मैं आत्मा असंग रहता है । इसलिये इन देह संघात् उपाधि पर गुणों के कार्य रूप विषयों का प्रभाव होते रहने पर भी मैं असंग आत्मा इन से लिपायमान नहीं होता

बल्कि असंग और निर्विकार ही रहता हूँ ।

अतः जो कुछ जानने में, अनुभव में या करने में आता है । सुख-दुःख, शान्तता, घोरता, क्रोध, विक्षेप, चंचलता, मान, अपमान, क्रूरता, हिंसा, दया, लोभ, लाभ, हानि, रोग, भोग उन्हें उपाधि का ही धर्म जानो । इनको अपने में न मानो । ज्ञानी इन्हें सत्ता नहीं देता इसलिये इन अवस्था को आने पर भी विचलित नहीं होता न इन्हें आने से रोकता है, न हटाने का प्रयास करता है और इनके हट जाने पर प्रसन्नता, श्रेष्ठता का भी अनुभव नहीं करता है । क्योंकि वह जानता है जो आया है वह अपने आप स्वयं चला जावेगा । गुण एवं उनका कार्य नित्य नहीं है किन्तु परिवर्तनशील है । किन्तु अज्ञानी इन्हें अपना जान दु:खी होता रहता है ।

अतः जब भी इन गुणों के प्रभाव से मन में घृणा, काम चंचलता क्रोध या त्याग भाव आवे तो घबराओ नहीं, शान्ति से काम लो । ये स्वतः ही निकल जायेंगे, सदा रह नहीं सकते । क्योंकि इन तीनों गुणों का प्रभाव ही ऐसा है कि ये घटते-बढ़ते रहते हैं । सर्वदा एकसे नहीं रहते हैं ।

अस्तु! काम, क्रोध आदि को प्रकृति के स्वभाव पर छोड़ दो । जैसे गुण से हमारा अन्तःकरण बना है वह गुण अपना कार्य करेगा यह उनका स्वभाव है । क्रोध, काम को हटाने का प्रयास करना ही उन्हें महत्व देना है, सत्ता हीन को सत्ता देना है । ज्ञान दृष्टि से देखो तो ये नित्य अभाव रूप हैं, हटे हुए ही हैं । यदि यह प्रतीत होते हैं तो प्रकृति के ही हैं । मुझ चेतन आत्मा से प्रकाशित हो रहे हैं, इसलिये पर-प्रकाश्य हैं । किन्तु यह मुझ प्रकाशक में नहीं है । अतः इसे अपने स्वभाव पर छोड़ दो । इस पर विशेष ध्यान मत दो कि यह काम, क्रोधादि विकार मुझ में क्यों आते हैं या मन में क्यों आते हैं ? यह नहीं होना चाहिये ऐसा विचारना भी उन्हें सता देकर जीवित रखने जैसा कार्य है ।

क्रोध एक आवश्यक हथियार है जब जरूरत हो तब इसका उपयोग करना पाप नहीं किन्तु यह है दृश्य अन्तःकरण उपाधि का ही धर्म । अपना धर्म मानना ही पाप रूपता है । ज्ञानी भी काम, क्रोध, लोभ मोहादि वृत्ति का, अज्ञानी की तरह उपयोग करता है किन्तु इन्हें अपने में नहीं मानता ।

दुर्वासा, वामन, परसुराम, विष्णु आदि में काम-क्रोध-लोभ था किन्तु उन्होंने हटाने का प्रयास नहीं किया क्योंकि वे जानते थे कि ये सब मुझमें नहीं है यह तो उपाधि के धर्म है वे देह पर्यन्त रहेंगे । उन्हें हटाया या मिटाया नहीं जा सकता न आवश्यकता ही है ।

'नकरोति न लिप्यते'

ज्ञानी इन हानि, दुर्घटणा, जन्म, मृत्यु मानापमान आदि दृश्यों को आते-जाते देखते हुए भी चलायमान नहीं होता । तुम्हारा इन विकारों के न आने से, न कुछ बनेगा, न इनके आने से कुछ बिगड़ेगा । अपने आपको ऐसा समझें कि इनसे मेरा कोई वास्तव में सम्बन्ध नहीं है । यह बात वास्तविक रूप से ही हृदय में आ जावे तो उत्तम है अन्यथा यह सोचते रहना कि यह ठीक नहीं है, यह ठीक है, तो ऐसा सोचना भी क्रिया बन जावेगी । किसी दृश्य के प्रति मान्यता देना उसको सत्ता देना है और यह अज्ञान ही है । ज्ञानी वही जो अपने को असंग, कूटस्थ जानता है और अपने में कोई भी विषय स्वीकार नहीं करता है ।

ज्ञानी कोई अन्धा, बहरा, गूंगा, लंगड़ा, लूला नपुंसक नहीं होता । जो सफेद-काले का, गर्म-थन्डे का, खट्टे-मीठे का भेद न जाने उसकी न तो आंख फूट गई है न बुद्धि मारी गई है जिसके कारण उसे खट्टे-मीठे, ठन्डा-गर्म, सुख-दुःख का अन्तर न मालूम पड़े । भगवान ने अपने जीवन में कौन-कौनसी लीलाएं नहीं की ? किन्तु वे अपने में उन-उन क्रियाओं

को नहीं देखते थे । ऋषि कुमार ने परीक्षित को श्राप दिया लेकिन मेरा किसी क्रियाओं से सम्बन्ध नहीं है ऐसा वे जानते थे ।

अत: निष्कर्ष यह निकला कि इन समस्त वृत्तियों एवं क्रियाओं को प्रकृति का समझे अपने अन्दर न इन्हें हम स्वीकार करें, न इन्हें मिटाने, हटाने अथवा बदलने की इच्छा, चेष्टा करें । अन्यथा जितना हम हटावेंगे उतना ही हम कर्तृत्वाभिमानी होते चले जावेंगे । प्रकृति के दायरे में ही रह जायेंगे तथा सहज नित्य सिद्ध ब्रह्मभाव को उपलब्ध नहीं हो सकेंगे । हटाने की कोशीश छोड़ दो तो ब्रह्मभाव ही है । प्रयत्न करते रहोगे तो सारे जीवन कर्ता ही बने रह जाओगे एवं जन्म-मृत्यु भ्रम बना ही रहेगा । हमें जानना तो यह था कि यह सब प्रकृति का धर्म है लेकिन मान लिया अपना । बस यही भूल कर बैठे । अत: अपने ऊपर से बोझ उतार दें कि मेरा यह धर्म नहीं है, इसी निश्चय में कल्याण है । जो कुछ हो रहा प्रकृति में ही हो रहा है, प्रकृति ही कर रही है । तुम असंग द्रष्टा हो । तुम्हारा इस जड़ प्रकृति की क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं है । इस जड़ प्रकृति के कार्यों को अपना मत मानो । इन्हें अपना मानने या अपने में मानने से ही बन्धन है यही दु:ख है । जैसी भी समस्या आ जावे उसका धैर्य से, वीरता से बचाव करो । ज्ञानी विक्षेप वाले कर्मों को करने में भी डरता नहीं । जो कर्म,भोग आ पड़ता है उसे उपाधि में ही होता देखता है एवं अपने को कर्ता नहीं साक्षी ही देखता है ।

प्रश्न-१३२ : प्रकृति अनित्य होने पर भी नित्य कैसे ?

उत्तर : जैसे शून्य(०) का अपना कोई अस्तित्त्व नहीं किन्तु १ के साथ उसका मूल्य बढ़ जाता है, उसे जीवन मिल जाता है इसी तरह प्रकृति जड़ अनित्य सत्ताहीन होने पर भी चैतन्य आत्मा के साथ नाना प्रकार के कार्यों को करती हुई अनुभव में आती है । जो जो जानने में, अनुभव में

आता है वह सब प्रकृति है और प्रकृति इस चेतन से अलग होकर नहीं रह सकती । चेतन के बिना यह शून्य रूप है । इसलिये यह प्रकृति अनित्य है अर्थात् अभाव रूप ही है ।

यहाँ नित्य का अर्थ अनादि काल से भ्रान्ति रूप समझना है सत्ता रूप से अस्तित्व रूप से नहीं । इसका न होना ही सत्य है जो नित्य अर्थ में कहा गया है वास्तव में नित्य नहीं ।

जब जानने वाली आत्म सत्ता के बिना प्रकृति कुछ नहीं है तो प्रकृति जो चेतन की सत्ता से जानी जायेगी वह प्रकृति कुछ नहीं हैं । जहाँ भी, जो भी, जिस प्रकार से है वही चेतन सत्ता मात्र है । इसके कार्यों को अपना मत मानो । इस उपाधि के कार्यों में मैं भाव करना अर्थात् अपने आत्मा में मानना ही बन्धन है और कोई न बन्धन है, न कोई दुःख है । न दुःख का कोई कारण ही है ।

हमारे बिना प्रकृति माया कुछ भी नहीं है । परन्तु हम अपने बल को भूल, जो नहीं उसे आजतक सत्ता देते आ रहे हैं । जो नहीं उसे लांघना हमें कठिन लग रहा है तुम्हारी शक्ति से ही यह माया प्रकृति कठपुतली के खेल की तरह काम कर रही है । कठिन इसलिये है कि उसके रूप में अपना आप ही तो है । समुद्र पार करना सहज है, हिमालय पर्वत लांघना सहज है । स्वर्ग, वैकुण्ठ सीमा पा लेना सहज है, समुद्र की गहराई खोज लेना सहज है । किन्तु अपने आप द्वारा अपने आप का अन्त पालेना, अपने आपको लांघना हो ही नहीं सकता, क्योंकि स्वयं ही है । अपने आप को भूल गये है इसलिये जो नहीं हैं उसे लांघना मुश्किल लग रहा है । लोग भी कहते हैं माया ने हमे बांध लिया है उससे छूटना बहुत मुश्किल है ।

रस्सी में अन्धकार के कारण सर्प भय उत्पन्न होने की तरह ब्रह्म में

अज्ञानता के कारण माया, प्रकृति की कल्पना हो रही है । और कुछ नहीं है । लांघने वाले भी आप है और जिसे लांघना है वह भी आप है । फिर कौन किसे लांघे । बस भ्रान्ति से मुक्त होना है ।

विद्वान् यह नहीं सोचता है कि यह प्रकृति, माया मेरे आश्रय है या मेरे आधीन है । वह जानता है कि यह है ही नहीं, मेरे स्वरूप में कहीं से आकार मिली भी नहीं । ये मेरे आश्रित है अथवा नहीं है, इन दोनों अवस्थाओं को मैं जानता हूँ । ये मेरे में है ही नहीं मैं ऐसा चिन्तन कर रहा हूँ, अथवा मैं इसका चिन्तन नहीं कर रहा हूँ, अथवा ऐसा चिन्तन मुझे करना चाहिये । इस तरह किसी भी प्रकार का अनात्म चिन्तन भी नहीं करना चाहिये । यह अच्छा है, यह बुरा है ऐसा भी नहीं सोचना चाहिये । क्योंकि यह सब उपाधि प्रकृति का ही कार्य है ज्ञानी जानता है यह सब गुणों में ही होता है मुझ में नहीं ।

इसलिये विद्वान् कुछ नहीं सोचता कि यह हो अथवा यह न हो । ऐसा होना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये । क्योंकि जो चीज है ही नहीं उसके बारे में क्या सोचे ? ज्ञानी वह अपने आप में पूर्ण अद्वितीय है । उस ज्ञानी का इन सब कल्पित मिथ्या बातों से क्या सम्बन्ध ? ज्ञानी यह जानता है जो मुझसे प्रकाशित होता है उस पर प्रकाश्य से मेरा क्या सम्बन्ध ? वह मेरा क्या बिगाड़ सकेगी ? कुछ नहीं । इसलिये ज्ञानी सर्वदा निर्भय एवं निर्द्वन्द्व रहता है ।

प्रश्न-१३३ : ब्रह्म हमारा स्वरूप है ऐसे मानने वाले ज्ञानी के द्वारा क्रिया कैसे होती है ?

उत्तर : ज्ञानी सभी क्रियाओं को प्रकृति की जानता हुआ असंग भाव से केवल देखता रहता है । अज्ञानी समस्त क्रियाओं को अपने में ही मानता है । ज्ञानी केवल देखता तो है किन्तु ऐसा चिन्तन नहीं करता कि

ऐसा क्यों हो रहा है, ये विचार क्यों आगये ?

ज्ञानी जानता है कि ये सात्विक, राजसिक तथा तामसिक भाव गुणों के प्रभाव से अभी-अभी मेरे देखते-देखते उदय हुए हैं । बचपन, किशोर, युवा, प्रौढ़ वृद्धावस्था अथवा रोग, पीड़ा की तरह मेरे सम्मुख उदय हुए हैं । मैं तो इन सभी भावों, अवस्थाओं एवं वृत्तियों से पहले ही विद्यमान हूँ ।

जो भी हुआ, जो हो रहा है भविष्य में जो भी क्रिया होगी सब उपाधि के प्रारब्धानुसार हो रहे हैं । इन दृश्य क्रियाओं से अपने को ज्ञानी दूर देखता है । वह किसी क्रिया में अपने को नहीं फंसाता है कि मैं ऐसा हूँ या मैं ऐसा हो जाऊँ ।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि अपने को देखो मैं कौन हूँ ? अपने को विचारते रहना कि मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ, ऐसा विचारना भी तो अपने को कुछ बनाना ही है । और प्रत्येक बनावट फिर प्रकृति के राज्य में ही है । अत: यह देखो, यह समस्त क्रिया वृत्ति क्या है, क्या इनका हमारे साथ मेल है, या हो सकता है ?

जहाँ तक उपाधि का सम्बन्ध है उपाधि (प्रकृति, स्वभाव) तो अपना काम करेगी । तुम उसे रोक नहीं सकते वह बनी ही ऐसी है । जैसे अग्नि जलाने को एवं पानी शीतलता प्रदान करने को है इससे भिन्न करना उनकी प्रकृति या स्वभाव नहीं है । अत: उपाधियों में उनकी प्रकृति अनुसार वैसी-वैसी क्रियाएँ अवश्य ही होगीं ।

इसलिये वेदान्त ज्ञान कर्म का विरोधी नहीं है । आप को केवल इन में अहंकार करने से रोकता है कि आप किसी से अपने को एक न जानो । तुम में कुछ मिल नहीं गया तुम निर्विकार ज्यों के त्यों हो । हाँ यदि हम

यह इच्छा करने लगजाते हैं कि ऐसा हो, ऐसा नहीं, या मैं ऐसा नहीं करूँगा तो यह अज्ञान ही है, अहंकार ही है। प्रकृति के धर्मों में यह कर्तृत्वाभिमान स्वरूप से च्यूत कर योगभ्रष्ट बनाने वाला है ।

प्रश्न-१३४ : स्वकर्म से परमात्मा की पूजा कैसे की जाती है ?

उत्तर : स्वकर्म का तात्पर्य है अपना बोध रहे कि मैं केवल 'ज्ञान' हूँ, बोध मात्र हूँ । जानना, देखना अन्तःकरण का कर्म है, मेरा स्वभाव नहीं । सब में सब कुछ मैं ही हूँ । जैसे विद्युत उपकरणों में क्रियाओं में बिजली ही सब कुछ है । इस प्रकार के अनुभव से क्रियाओं को देखते रहना और अपने को अकर्म रूप आत्मा देखते रहना ही स्वकर्म से उसकी पूजा है अन्य कर्म से नहीं । क्योंकि ज्ञानी को सदा अपने साक्षी आत्म स्वरूप का स्मरण होता रहता है । अन्यथा ज्ञानी के अतिरिक्त कोई भी किसी दूसरे नाम, रूप में निरन्तर भक्ति कर नहीं सकता ।

जो ज्ञानी किसी वृत्ति को अपना होना मानता है वह कभी भी विदेह मुक्ति अर्थात् शान्ति को प्राप्त नहीं हो सकेगा । ज्ञानी वही जो वृत्ति अवलम्बन से रहित अपने को देखता है । वही स्वरूप भूत आनन्द को प्राप्त होगा, उसे ही सम दृष्टि प्राप्त होगी । वह सदा एक रस अखंड रहता है, वही परम धाम विदेह मुक्ति को प्राप्त करेगा । विदेह मुक्तिका अर्थ देह नाश उपरान्त नहीं । अन्यथा देह नष्ट हो जाने पर तो कुछ भी अनुभव नहीं कर सकेगा । देह रहते हुए सर्वात्म दृष्टि कर ज्ञानी रहता है अर्थात् सर्वत्र अपने को ही देखता है ।

प्रश्न-१३५ : ब्रह्मनिष्ठा किसे कहते हैं ?

उत्तर : आत्म तत्त्व को सद्गुरु के समीप पहुँचकर जानतो लिया है किन्तु अपनी दृढ निष्ठा असंग, साक्षी, निष्क्रिय आत्म स्वरूप में नहीं हुई

है, बल्कि जिसकी निष्ठा अभी द्वैत में ही है तो फिर उसकी नौका अभी भंवर में है। उसने अभी सुना हुआ, मनन कर अपनी बुद्धि में धारण नहीं किया। शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के साथ तादात्म्य कर मैं कर्ता-भोक्ता हूँ ऐसी विपर्यय बुद्धि करना अज्ञान का ही लक्षण है। अत: ऐसा अनात्मा में आत्म भ्रान्ति मैं पना नहीं करना चाहिये।

अभिनिवेश आत्मा में हो, न कि अनात्मा में। न कभी इष्ट को प्राप्तकर प्रसन्न हो न आपत्ति में शोक मनावे कि हाय मैं दु:खी हूँ, मैं कामी हूँ, मैं क्रोधी हूँ यह पश्चाताप भी न करे। ऐसा ठीक नहीं, ऐसा करना चाहिये था, इस प्रकार भी-भेद दृष्टि न करे। न संसार को छोड़कर कहीं जंगल, आश्रम में भागे। न अनात्म चिन्तन हटाने के लिये वेदान्त श्रवण, मनन छोड़ कर्म, उपासना करें।

प्रकृति का अपना कार्य उसे करने दो। जिस जीव के लिये जो प्रारब्ध निश्चित हुआ है वह क्रिया तो होना ही है। इसी तरह प्रकृति के बने मन, बुद्धि, शरीर आदि का जैसा-जैसा काम है वे वही करेंगे। भले ही उपाधि एवं उनका कार्य कल्पित ही हैं। प्रकृति ने अपना काम आप सम्भाल रखा है। लेकिन हमे उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। इससे तादात्म्य हटा लेने में ही कल्याण है।

अपने आपको ब्रह्म जानना यह ब्रह्माकार वृत्ति है, सर्वत्र ब्रह्म देखना यह ब्रह्माकार दृष्टि है। अपने में ब्रह्मवृत्ति होती है लेकिन सर्वत्र ब्रह्मवृत्ति नहीं होती। सर्वत्र तो आप ब्रह्मदृष्टि ही करते हैं। जिसकी वृत्ति ही उड़ गई वह सदा ब्रह्मानन्द में है। जो वृत्ति बनाने मिटाने के चक्कर में पड़ा रहता है कि यह ब्रह्म है, वह ब्रह्म नहीं है वह सदा इस विक्षेप में ही उलझा रहेगा। वह अखण्ड आनन्द नहीं ले सकेगा।

यह चित्त जहाँ भी एकाग्र होगा वहीं आनन्द प्रकट होगा। वहाँ

विकार नहीं रह सकता। चित्त समाहित होना चाहिये चाहे किसी में भी हो। जहाँ पूर्ण चित्त की एकाग्रता है वहीं ब्रह्मता है। जो इस चित्त के ऊपर इसके किये हुए को, कर्मो को, विचारों को अपना किया मानता रहता है, उसी पर इस जड़ प्रकृति का जोर चलता है, उसे ही यह बन्धन में डाल देती है। अन्यथा प्रकृति स्वयं कोई वस्तु नहीं है वह तो ढोल की पोल वत् झुठी ही है।

हम जब प्रकृति से तादात्म्य हटा लेते हैं तब वह कुछ नहीं कर पाती है। अपना कुछ जोर नहीं दिखा पाती है। ब्रह्मज्ञानी के विषय में वह जानती है कि यह मेरे को एवं मेरे किये को तो केवल असत्य ही जानता है। यदि मेरे किये को यह सत्यमान ले तो फिर मैं इसे बन्धन में डालकर ८४ में नचाऊं। हम जब प्रकृति के साथ एकता स्थापित कर लेते हैं कि यह सब देह संघात मैं हूँ इनके कर्म, धर्म, अवस्था मेरी है तभी प्रकृति का बल मिलता है एवं वह हमें संसार चक्र में भटकाती है।

प्रकृति कहती है जब् तक अज्ञानी मुझे मान रहा है तब तक ते मैं इस पर सवार हूँ, जब मुझे नहीं मानता तो मैं किस पर सवारी करूँ? जब ज्ञान हो जाता है तब उल्टा हो जाता है ज्ञान मुझ पर सवार हो जाता है मुझे अपने आधीन कर मुझको काम कराता है एवं कोई महत्व, मूल्य भी मुझे नहीं देता है तब मैं इसकी गुलामी करती हूँ। जब मुझे वह ब्रह्म रूप मानता है तो मैं भी ब्रह्मरूप हो जाती हूँ। फिर कौन किसे बन्धन में डाले। तब मेरा व ब्रह्म का भेद नहीं रहता। और जब यह भी अपने ब्रह्म भाव में स्थित हो जाता है तब मैं इसे कैसे स्पर्श करूँ? ब्रह्मको तो मैं छू नहीं सकती। हाँ जब तक यह जीव भाव रखता है तब तक इस पर अपना जोर दिखाती रहती हूँ।

ज्ञानी चित्त वृत्ति का अतिक्रमण करता है। अर्थात इन पर ध्यान

नहीं देता है कि ये भी कोई सत्ता रखती है अथवा मेरा कुछ बिगाड़ करेंगी। या इसके न रहने से हम ठीक रहेंगे। यह बात उसकी बुद्धि में नहीं आती। हमें अनात्मा से तादात्म्यता तोड़ना है, ब्रह्मभाव बनाने की जरूरत नहीं। ब्रह्म तो हम नित्य है। ब्रह्म भाव को बनाये रखना एवं विषय संसार न दिखाई पड़े इसका प्रयत्न करना तो उल्टा अपने नित्य सिद्ध ब्रह्मभाव में अब्रह्मत्व का ही भ्रम पैदा कराता रहता है।

अत: ज्ञान की सार्थकता इस अन्त:करण उपाधि के रहते हुए ही इसके अभाव निश्चय में है न कि इसको मिटाने में। ब्रह्मवित ज्ञानी इसको जानता है कि ये सब अपने गुण में बरत रहे हैं। मेरे में यह तमोगुणी विचार क्यों आगये ? इन्होंने मुझे पतित विकारी बना दिया है ऐसा ज्ञानी अपने में नहीं मानता। यह शरीर, इन्द्रिय, मनादि गुणों से बने हैं तो इनमें कम ज्यादा अवश्य होगा। गुणों के घटने- बढ़ने से अपने को ऊंचा-नीचा ज्ञानी नहीं मानता है।

अन्त:करण का प्रकाशित होना और उसको अपना आप मानने वाला चिदाभास जीव है। जबकि जो चीज परप्रकाश्य होती है वह वास्तव में होती ही नहीं हैं। ऐसे मिथ्या जीव भाव में 'अहं-मम' करना अज्ञान से ही होता है। अनुकूलता प्रतिकूलता रूप विषय चिदाभास को ही प्रतीत होते हैं, लेकिन मैं चिदाभास नहीं हूँ। वह मेरी ही परछाई है। उसीमें जानने का धर्म प्रकट हुआ। अन्यथा वह है ही नहीं।

अत: निष्कर्ष यह है कि इन गुणों को जानने वाला चिदाभास ही है जो इन दृश्यों की अपेक्षा से उदय होता है। इन दृश्य पदार्थों के अभाव में वह भी अस्त हो जाता है। हम अखण्ड एकरस आत्मा ही है। लेकिन अज्ञानता के कारण अपने अखण्ड आत्मा को भुलाकर अनात्मा चिदाभास को हम अपना स्वरूप मान लेते हैं। जब अपनी अखण्डता का बोध हो

जाता तो फिर किसी को हटाने भगाने मिटाने की आवश्यकता नहीं होती ।

प्रश्न-१३६ : ज्ञानी के लिये विक्षेप क्या है ?

उत्तर : जिज्ञासु साधक को ध्यान से या एकाग्रता से कभी किंचित् सुखाभास हो गया, ज्योति, प्रकाश हो गया लेकिन फिर उसी वृत्ति को बार-बार बनाये रखने के लिये प्रयास करता रहे कि यह वृत्ति सदा बनी रहे तो यही विक्षेप है । अदृढ़ ज्ञानी को जब अनात्म विचार आये तब कहता है इनके द्वारा मेरी समाधि टूट गई, अब पुन: कैसे प्राप्त होगी ? हाय मैं क्या करूँ ? यह सब चिदाभास का ही चिन्तन है । फिर इनसे निवृत्ति चाहता है एवं दृश्य वर्ग को असत्य कहकर उसकी निन्दा करता है तो भी चिदाभास उपाधि के ही घेरे में वह जीव है, उससे बाहर तो निकल नहीं पाया । लेकिन यह सब पश्चाताप करने की जरूरत ही नहीं है । तुमको ये विचार स्पर्श ही नहीं करते तुम अटल, कूटस्थ ज्यों के त्यों स्व प्रकाश में ही नित्य विद्यमान हो । ऐसा ही अपने को जानो ।

ज्ञानी तीनों गुणों के कार्य प्रकाश, प्रवृत्ति तथा मोह को आते एवं जाते तो देखता है, किन्तु किसी के होने में राग-द्वेष नहीं करता कि यह आएें एवं यह चले जाऐं ऐसा नहीं सोचता । मैं हूँ जो मैं हूँ यह मैं नहीं हूँ ।

प्रश्न-१३७ : ज्ञानी को व्यवहार में दु:ख, क्रोध शोकादि क्यों हो जाता है ? एवं स्वरूप विस्मरण हो जाने पर क्या करें ?

उत्तर : ज्ञानी का यदि व्यवहार में मन बैचेन हो जाता है और स्वरूप विस्मृति होकर देहभाव उदय हो जाने से क्रोध, शोक एवं दु:ख द्वन्द्व हो जाते हैं तो ऐसी अवस्था में उससे असंग ही अपने को समझना चाहिये । जो कुछ भी देखने, जानने व अनुभव करने वाला है वह बुद्धि में प्रतिबिम्बित चिदाभास है । यह चिदाभास ही इन्द्रियों के धर्मों में अहंकार कर, मैं भाव कर दु:खी सुखी रोता-चिल्लाता है । यही आरोपित चिदाभास

याने मिथ्या मैं अपने धर्मों को मुझ सत्यात्मा पर आरोपित कर देता है ।

जब जाग्रत अवस्था है, इन्द्रियाँ स्वस्थ है, अन्त:करण है, तो कुछ न कुछ जानना, देखना, सुनना, कहना, ग्रहण-त्याग बना ही रहेगा यह देह पर्यन्त छूटेगा नहीं । किसी का भी नहीं छूटता है । ऐसा कोई देहधारी मानव नहीं जिसमें काम, क्रोध, लोभ, मोहादि वृत्तियाँ न फुरती हो । यह तो फुरेंगी ही । महात्माओं में वृत्तियाँ एवं भोग भी दिखाई पड़ते हैं जो अज्ञानी के जीवन में प्रतीत होते हैं । ज्ञानी अज्ञानी में अन्तर केवल अपने में मानने न मानने का ही है । अज्ञानी चिदाभास प्रकृति के कार्य को अपने में मानकर दु:ख बन्धन को प्राप्त होते हैं । जबकि ज्ञानी इन्हें चिदाभास में ही देखता है, आत्मा में नहीं । अत: ज्ञान इस जानने को मिटाने में नहीं कि हमें कुछ भी भेद प्रतीत न हो । ज्ञान तो यह है कि इनको जानते हुए भी इन में सत्यत्व बुद्धि न हो, और अपने को असंग जाने । यद्यपि यह जानना सोचना भी मिथ्या जीव का ही कार्य है, चिदाभास ही कर रहा है । अत: चिदाभास ज्ञाता का उदय हो जाना कोई आपत्ति जनक नहीं । आपत्ति जनक तो यही है कि चिदाभास के धर्मों को हम अपना मान बैठते हैं । इनके धर्मों के साथ मिल जाने में है ।

आत्मा व चिदाभास में अन्तर है । आत्मा अखंड है । चिदाभास परिच्छिन्न है । विषयों, दृश्यों एवं जानकारियों के होने से चिदाभास है वरना वह इनके अभाव में नहीं रहता है ।

जब अन्त:करण में चेतन आत्मा का आभास पड़ता है, तब वहाँ एक मैं (अहम्) उदय हो जाता है । यह अहम् (मिथ्या मैं) ही विषय वासना को देखता, चाहता एवं भोगता है । शुद्ध सत्य आत्मा नहीं । क्योंकि जहाँ द्वैत नहीं वहाँ कौन किसको देखे, सूंघे जाने ? विषय ग्रहण में एक द्रष्टा, ज्ञाता, भोक्ता चाहिये । जहाँ विषय ग्रहण होता है वहाँ यह

मिथ्या मैं (अहम्) ही द्रष्टा बन खड़ा हो जाता है एवं भोक्ता बनता है इसके अलावा समाधि सुषुप्ति में नहीं होता हैं । अत: यह ज्ञाता या चिदाभास हमारा वास्तविक आत्मा नहीं है यह अनित्य एवं सापेक्ष होने से मिथ्या है । लेकिन अज्ञान वश हम लोग इसी मिथ्या चिदाभास जीव को ही अपना आप स्वरूप (आत्मा) मानते रहते हैं और इसको होने वाले सुख-दु:खों को अपने में मान लेते हैं । इसीलिये इन्हें हम मिटाना चाहते हैं ।

जैसे स्फटिक मणि निर्मल स्वच्छ होने पर भी उसी के नीचे रखे लाल पुष्प से मणि भी लाल रंग वाली प्रतीत होती है । इसी प्रकार अन्त:करण से यह अति स्वच्छ आत्मा भी अन्त:करण रूप से ही प्रतीत होती है । अथवा रस्सी ही सर्प रूप में भासित होती है । ज्ञानी इनको मिथ्या जानते हुए अपने को उनका प्रकाशक एवं असगं जानता है । अत: न तो भासने वाला अध्यस्त सत्य होता है और न उस प्रतीति का आधार विकारी होता है । आत्मा ज्यों का त्यों निर्विकार ही रहता है । ज्ञानी यही विवेक बुद्धि द्वारा व्यवहार में बनाये रखते हैं ।

प्रश्न-१३८ : व्यवहार काल में अनुकूल प्रतिकूलताओ के बीच यह वेदान्त ज्ञान को कैसे उपयागी माना जावे ?

उत्तर : व्यवहार काल के लिये ही वेदान्त ज्ञान उपयोगी है । आत्म ज्ञान सुषुप्ति व समाधि हेतु तो है नहीं । व्यवहार काल जाग्रत में ही इसकी उपयोगिता है । और बिना व्यक्तता के आप अव्यक्त को जान भी नहीं सकते । इसीलिये यह जगत् व्यवहार भी आवश्यक है । सच पूछो तो यह जगत् व्यवहार वेदान्त का ही स्पष्टीकरण है, प्रत्यक्ष प्रयोगशाला है ।

तत्त्ववेत्ता पर कोई विधि या निषेध भी लागु नहीं होता कि इस तरह से रहे, इस तरह से न रहे । इस प्रकार करे, ऐसा न करे । वे जिस

तरह प्रारब्ध अनुसार विचरण करें कोई आपत्ति नहीं । अन्य महात्मा तो अनेक प्रकार की मर्यादाओं का भी पालन करते हैं, लेकिन तत्त्ववेता मस्तानों, पियक्कड़ों, दिवानों की बात कुछ और ही है जो करोड़ों की भीड़ से हट कर अकेले ही चलते हैं । वे चाहे जैसे भी विचरे अज्ञानियों के अतिरिक्त वेद शास्त्र को कोई आपत्ति नहीं । ज्ञानी शास्त्र मर्यादाओं से पार हो गये हैं ।

'सर्वश्रुति शिरोरत्न विराजित पदाम्बुज'

तत्त्ववेत्ता राजा जनक, श्रीकृष्ण, अर्जुन, दत्तात्रय, गोपियां सदन, जड़ भरत, मीरा, मन्सूर, सुकरात के नाम इतिहास में प्रसिद्ध है । ये लोग प्रत्येक परिस्थिति में समभाव में रहते थे ।

दत्तात्रय ने जब देखा कि आने वाले दर्शकों की भीड़ बहुत बड़ती जा रही है । तो असली जिज्ञासु ठहर जावे एवं ढ़ोगी शिष्य भाग जावे इसके लिये एक खेल रचा । एकदिन सच्चे शिष्यों की परीक्षा हेतु शराब की बोतल हाथ में पकड़ वेश्या के कन्धे पर हाथ रखता हुआ नगर में निकल पड़ा यह जानने के लिये कि कौन तत्त्ववेत्ता है और कौन तत्त्ववेत्ता नहीं है । क्योंकि जो असली गुरु भक्त तत्त्व जिज्ञासु होगा वह तो गुरु की किसी भी क्रिया में आपत्ति नहीं उठावेगा । किन्तु जिसको सब ब्रह्म है ऐसा बोध नहीं है एवं गुरु पर पूर्ण श्रद्धा नहीं है वह अश्रद्धालु अवश्य आपत्ति उठावेगा एवं भाग जावेगा ।

शिखरध्वज राजा की पत्नी चुड़ाला ने भी संकल्प पुरुष को अपने पति के सम्मुख प्रकट कर उसके साथ रमण करते हुए काम क्रीड़ा की लीला कर दिखाई ताकि यह पता लग जावे की राजा पूर्ण ब्रह्मभाव में ठहरा है या नहीं । लेकिन राजा को अपनी पत्नी चुड़ाला को अन्य पुरुष के साथ सम्भोग करते देखकर भी क्रोध नहीं आया कि मेरी रानी एक अन्य

पुरुष के साथ क्यों रमण कर रही है अब इसे मैं त्याग दूँ या मार डालु इस प्रकार क्रोध भाव भी नहीं हुआ ।

देह संघात् की क्रियाएं देख हम अपने को मैं पापी, मूर्ख, बुद्धिमान, कामी, क्रोधी आदि कुछ का कुछ मान बैठते हैं । व्यवहारिक दृष्टि में भले ही कोई हानि कहलो लेकिन यह सब कुछ उपाधि में ही, गुणों में ही, माया में ही है । तुम द्रष्टा, साक्षी, असंग, निर्विकार, कुटस्थ, निराकार, निरवयव निष्क्रिय आत्मा में कुछ नहीं । वायु में तलवार चलाने जैसा ही ज्ञानी का व्यवहार के प्रति धारणा रहती है । शीशे में रास्ते के यातायात का प्रतिविम्ब पड़ रहा है तो शीशे का क्या बनना बिगड़ना है ? इसी तरह इन मन, बुद्धि इन्द्रियादि की क्रियाओं, अवस्थाओं का या शरीर भाव का भी इस चैतन्य स्फटिक मणि वत् आत्मा पर प्रतिविम्ब पड़ते रहने से कोई हानि नहीं है । इनको जानने वाला मैं सदा उन-उन जानी गई क्रियाओं, अवस्थाओं, वृत्तियों से दूर असंग एवं निर्विकार ही हूँ । ये प्रतिविम्ब पड़ते रहें, क्रिया होती रहे वृत्ति उठती रहे हमें क्या ? इस प्रकार का बोध तत्त्ववेत्ता को व्यवहार काल में भी बना रहता है, इसलिए वह हर परिस्थिति में शान्त ही बना रहता है । किसी भी परिस्थिति में वह विक्षिप्त नहीं होता, उद्वेग को प्राप्त नहीं होता है । क्योंकि सब कर्मों को ज्ञानी चिदाभास में मानता है अपने में कर्म एवं दुःख-सुख, पुण्य-पाप को स्वीकार नहीं करता ।

दुःख को सहन करना न करना, मन में काम, क्रोध का आना न आना यह सब अन्तःकरण तक ही सीमित है इनका ज्ञान से या ज्ञानी से कोई सम्बन्ध नहीं है । जिसकी जैसी मानसिक स्थिति है उसके अनुसार वह धैर्य रख सकता है । एक महात्मा ने बिना बेहोश हुए आप्रेशन करा लिया, तो एक महात्मा थोड़े से दांत दर्द के कारण रात भर बैचेन रहे । ये दोनों पूर्ण

ज्ञानी ।

तो दुःख सहन न कर पाना या किसी की मृत्यु पर आसूं निकल आये, तो क्या इसका यह मतलब है कि हम ज्ञानी नहीं है । अथवा हमारा ज्ञान कहीं चला गया है । ऐसी बात नहीं है । यह उपाधियों का काम है । हमें उनके होने न होने से, सहन होने न होने से क्या ? अतः शिकायत मत करो कि यह सब क्यों होता है, या जीवभाव क्यों आ जाता है । भले ही आवे हमें क्या ? प्रतीति चिदाभास को ही है । नाटक में अभिनय करने वाला वह चोर, राजा, वैश्या, सती आदि जो दिखता है, वह वही नहीं हो जाता । तुम भी जीवन को नाटक समझलो एवं अपने को अलग जानते रहो । तो जीवन में डरने की कोई बात नहीं ।

प्रश्न-१३९ : आत्मा के अलावा अन्य कुछ नहीं है तब यह ज्ञाता, द्रष्टा कौन है एवं किसके है ?

उत्तर : आत्मा अद्वय चेतन सत्ता मात्र है । आत्मा ज्ञान है किन्तु ज्ञाता नहीं है । ज्ञाता हमेशा ज्ञेय एवं द्रष्टा दृश्य की अपेक्षा से होता है । यदि दृश्य नहीं तो द्रष्टा एवं ज्ञेय नहीं तो ज्ञाता भी नहीं है । जैसे सुषुप्ति में वहाँ कुछ भी ज्ञेय दृश्य नहीं है इसलिए वहाँ ज्ञाता द्रष्टा भी नहीं है । आत्मा सत्य है, आत्मा यदि ज्ञाता होता, द्रष्टा होता तो उसका द्रष्टापना, ज्ञातापना ज्यों का त्यों सर्वदा रहता, किन्तु सुषुप्ति तथा ध्यान, समाधि में वह द्रष्टा, ज्ञाता नहीं होता है, इससे यह सिद्ध हो जाता है कि आत्मा ज्ञान है किन्तु ज्ञाता नहीं । देखना है किन्तु देखता नहीं । जैसे सूर्य प्रकाश है किन्तु प्रकाशक नहीं । तब अखण्ड अद्वय आत्मा के अलावा कौन ज्ञाता, द्रष्टा है ? यह आत्मा ही अपने ज्ञान स्वभाव से अन्तःकरण वृत्ति के माध्यम से ज्ञाता, द्रष्टा कहलाता है । आत्मा ही सब में अनुस्यूत है । मन, बुद्धि में पड़ने वाले प्रकाश आत्मा को ही प्रमाता, जीव, चिदाभास आदि पारिभाषिक

नाम दिये गये हैं । लेकिन यह आत्मा नहीं है, यद्यपि यह आत्मा से भिन्न भी नहीं है । क्योंकि ज्ञान सत्ता इनमें भी अनुस्यूत है ।

बस यह जीव ही ८४ लाख योनियों में भटकता है । इसे ही कर्ता-भोक्ता पने की भ्रान्ति हो रही है यही सुखी-दुःखी होता हुआ बन्ध, मोक्ष को प्राप्त होता है ।

यह ज्ञाता, द्रष्टा तो स्वप्न द्रष्टा के समान मिथ्या है । जब प्रजा नहीं तब राजा कहाँ व किसका ? जब स्वप्न ही नहीं तो द्रष्टा किसका ? जो उदय-अस्त धर्म वाला दृश्य जगत् है वह सत्य नहीं है । सत्य तो तीनों कालों में रहता है । तब उदय-अस्त दृश्य जगत्, का द्रष्टा, ज्ञाता चिदाभास भी सत्य नहीं । आत्म ज्ञान बिना इस ज्ञाता, जीव, चिदाभास, प्रमाता का मिथ्या पना भी सिद्ध नहीं होता, जैसे रस्सी ज्ञान के बिना सर्प, दंडादि का मिथ्या पना सिद्ध नहीं होता है । और जब तक इस जीव का मिथ्या पना सिद्ध नहीं होता है तब तक इसका संसार बन्धन, दुःखों से छुटकारा भी सम्भव नहीं है ।

'यह', 'यह' रूप में जो भी दृश्य भीतर अथवा इन्द्रियों के सम्मुख नजर आता है, जानने में आता है वह सब दृश्य, ज्ञेय, जड़ एवं अनात्मा श्रेणी में आता है एवं इनको जानने देखने वाला द्रष्टा, ज्ञाता इनसे भिन्न ही होता है ।

प्रश्न-१४० : क्या यह मन, बुद्धि वास्तविक ज्ञाता है या इनका भी कोई ज्ञाता है यदि है तो वह कौन है और कहाँ रहता है ?

उत्तर : आत्म वस्तु तो एक अखण्ड सर्वरूप है । उसी का नाम ज्ञेय की अपेक्षा से ज्ञाता तथा दृश्य की अपेक्षा से द्रष्टा कल्पित किया गया है । वही भोक्ता है एवं वही भोग्य है । न वह ज्ञाता है न वह द्रष्टा न वह

भोक्ता है क्योंकि उससे भिन्न कुछ है ही नहीं ।

जैसे एक ही पुरुष अपेक्षा से बेटा, भाई, पति, साला, जमाई, बहनोई, ससुर, देवर, ज्येष्ठ आदि उपाधिवान हो जाता है । यदि समस्त उपाधि का अभाव हो जावे तब वह मात्र पुरुष है । एकान्त में वह पुरुष है सम्मुख मां आगई तो बेटा कहलाया मां मर गई तो बेटा भी नहीं । सम्मुख पति है तो पत्नी कहलागई । पति मर गया तो विधवा भी नहीं, पत्नी भी नहीं केवल स्त्री ।

आत्मा चिदाभास के सम्मुख होने से ज्ञाता, द्रष्टा कहलाता है । आत्मा जानने वाला नहीं है । आत्मा जानने वाला होता तो सुषुप्ति में भी जानने वाला बना रहता किन्तु वहाँ आत्मा तो है पर चिदाभास यह अन्त:करण मन, बुद्धि नहीं रहते । इसलिए समाधि सुषुप्ति में कुछ भी जानने में नहीं आता, किन्तु आत्मा तो तब भी है । तात्पर्य यह है कि यह ज्ञाता पना, प्रमाता आत्मा में नहीं है । अद्वय आत्मा स्वयं ही है । अन्य नहीं तब वह किसका ज्ञाता बने ? किस का द्रष्टा बने, किसका भोक्ता बने ?

अत: दृश्य-द्रष्टा, ज्ञाता-ज्ञेय, प्रमाता-प्रमेय, ध्याता ध्येय की द्वैत बुद्धि से रहित जो शेष रहता है । जो द्वन्द्व का प्रकाशक निर्विकल्प अपना आप है, उसको जो 'मैं' रूप से जानता है वही ज्ञानी पुरुष है ।

'नेति-नेति' का जो प्रकाशक साक्षी आत्मा है वह कभी 'इदमूता', 'यह रूप' से नहीं जाना जा सकता । उसे तो 'अहम्' मैं रूप से ही निश्चय किया जा सकेगा । और यह निश्चय भी इस मिथ्या चिदाभास के द्वारा ही होगा । लेकिन जब यह मिथ्या चिदाभास अपने को ब्रह्म रूप कहता या मानता है, तब यह अपनी सत्ता को अभाव रूप निश्चय कर अपने प्रतिबिम्ब रूप के प्रकाशक बिम्ब रूप में ही अहंकार करता है कि मैं यह प्रतिविम्ब नहीं हूँ सत्ता, मूल स्रोत तो मेरा चिदात्मा है, चिदाभास नहीं है ।

हमेशा अपने से भिन्न पदार्थ को ही जाना जाता है । आत्मा तुम हो, वह तुमसे भिन्न नहीं इसलिए आत्मा को कोई नहीं जान सकता । अपना आप 'मैं' जानने का विषय नहीं है जिससे सब कुछ जाना जाता है उसे कौन जाने ? अपने कन्धे पर आप ही कैसे चढ़े ? अत: वह कोई अन्य नहीं वह तुम हो । जो वस्तु किसी की सापेक्षता से होती है वह होती नहीं । जैसे दृश्य है तो द्रष्टा और द्रष्टा नहीं तो दृश्य नहीं । दोनों सापेक्ष होने से मिथ्या सिद्ध होते हैं । दोनों आत्मा में ही कल्पित है । रस्सी में सर्प, सीप में रूपा, मरूस्थल में जल की तरह । अत: यह सब अध्यस्त होने से अभाव रूप है । अधिष्ठान रस्सी, मरुस्थल, सीप ही व्यवहारिक रूप से सत्य है । इसी प्रकार आत्मा ही सत्य है यह द्रष्टा-दृश्य, ज्ञाता-ज्ञेय, प्रमाता-प्रमेय, ध्याता-ध्येय सभी कल्पित है ।

जिसे हम 'यह रूप' करके न बता सके और जो भाव-अभाव, उदय-अस्त का प्रकाशक भी हो परन्तु स्वयं जानने का विषय भी न हो तो फिर वह अन्य नहीं अपना आप है, ब्रह्म ही है । जिसके अस्तित्व को इन्कार भी नहीं किया जा सके उसे ही ब्रह्म कहते हैं । वही तुम हो । अपने आपको कोई नहीं कह सकता कि मैं नहीं हूँ । मैं नहीं हूँ ऐसा कहने में भी मैं तो हूँ ।

आत्मा मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि संघात से न भिन्न कहा जा सकता है न अभिन्न कहा जा सकता है न भिन्नाभिन्न इसके बीच का कहा जा सकता है । जो इस अप्रमेय आत्म स्वरूप के रहस्य को जानले वही तत्त्ववेता है ।

आत्मा सूरज की तरह मात्र प्रकाशता है, प्रकाश स्वरूप है, परन्तु जो-जो उससे प्रकाशित होता है या जिस-जिस रूप में वह स्वयं ही प्रकाशित होता है वह उसे स्पर्श भी नहीं करता । केवल प्रकाशना ही

उसका काम है अनेक रूपों को देखना यह प्रकाश की कामना नहीं है । दृश्य जगत् को देखना तो द्रष्टा का काम है । अन्त:करण मन, बुद्धि का काम है । प्रकाश तो मात्र फैलना जानता है । कमरे के आकार होकर फिर कमरे में क्या-क्या टेबल कुर्सी, अल्मारी, पलंग पुस्तक, कपड़े चप्पल जूते है यह ज्ञान प्रकाश को नहीं । यह हमारी कल्पना है कि यह पंखा टेबल पर रखा है । हम जैसी कल्पना करते हैं वह उसी प्रकार हाथी, घोड़ा, घट, पटादि रूप में प्रकट भास जाता है । वह अपनी ओर से मात्र प्रकाश है प्रकाश्य पदार्थ का ज्ञान कराना उसका काम नहीं । अत: यह मत पूछो कि किस किस रूप से वह प्रकाशता है । सब प्रकार से प्रकाश ही तो अपना प्रकाशन कर रहा है । प्रकाश के अलावा सिनेमा या जगत् में अन्य कुछ नहीं है ।

प्रश्न-१४१ : 'जो मुझे जिस भाव से भजता है मैं भी उसे उसी भाव से भजता हूँ' इसकथन का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर : हम राम-राम कहेंगे तो वह भी हमारा निरन्जन- निरन्जन, तोषी-तोषी, सरिता-सरिता भजन करेगा, ऐसा तात्पर्य नहीं समझो ।

लकड़ी जिस आकार की होगी, कोयला जिस आकार लम्बाई चौड़ाई का होगा अग्नि उसी आकार में प्रकट हो जाती है । जिससे जो प्रकाशित होता है वह तद्रुप होकर ही प्रकाशित करता है । मिट्टी इन घड़ा, सुराही, ईटं, खप्पर, दीपक, गणेश, दुर्गा, सरस्वती जो पृथक् रहकर प्रकाशित नहीं करती, बल्कि तद्भाव तद्रुप होकर ही स्वयं प्रकाशित हो जाती है । अन्यथा मिट्टी बिना वह पदार्थ ही नहीं हो सकता । मिट्टी पृथक् रहे तो कोई बर्तनों की आकृति ही नहीं बन सकेगी । क्योंकि कारण कार्य की सदा अभिन्नता ही रहती है ।

इसी तरह यहाँ भी जिस-जिस का अनुभव हमें होता है, ज्ञान

होता है, जानने, देखने, सुनने, चखने, सूंघने में आता है वह वह अनुभव ज्ञान भी इस चेतन स्वरूप, ज्ञान स्वरूप आत्मा के सद्भाव से ही होता है। अर्थात् चेतन ही होता है। तभी जानने में आता है अन्यथा जानने में आ ही नहीं सकता। उबलते हुए खांड़(चीनी, शकर) को जिस आकृति के सांचे में ढालो वह उसी आकृति में होकर प्रकट हो जाती है। इसी तरह आत्मा भी उसी-उसी रूप में प्रकट हो रहा है, जिस-जिस रूप में तुम मानते हो ? जैसी तुम्हारी मति उसी तरह की वह अपनी स्थिति बनाकर प्रकट हो जाता है।

एक ही स्त्री दर्शकों की कल्पना के अनुसार कोई उसे बेटी, कोई पत्नी, कोई बहन, कोई बहु, कोई सास, मासी, ननंद, ज्यैष्टानी, भाभी माँ आदि रूपों में दिखाई पड़ती है।

'जाकी रही भावना जैसी, इक स्त्री देखी तिन तैसी'

सूरज व आत्मा में बहुत अन्तर है। सूर्य तो दूर रहकर प्रकाशता है दृश्य पदार्थ उससे भिन्न होते हैं, वह असंग रहता है। आत्मा भी असंग तो अवश्य है किन्तु वस्तुओं से वह दूर नहीं है जिन्हें वह प्रकाशता है वही होकर प्रकाशता है। आत्मा सूर्य की तरह कहीं दूर रहकर किसी वस्तु, स्थान या व्यक्ति को प्रकाशित नहीं करती, बल्कि वह स्वयं ही उन-उन रूपों में प्रकट होता है।

आत्मा ही ज्ञेय रूप होकर प्रकट होता है और आप ही ज्ञाता रूप होकर प्रकाशता है। परन्तु वास्तव में आत्मा से भिन्न न कोई दृश्य है, न ज्ञेय। न कोई द्रष्टा है, न ज्ञाता। आत्मा ही हर तरह से प्रकाशित हो रहा है, लेकिन बुद्धि ही उसे ''वह है'', ''यह है'' करके ग्रहण करती है। बुद्धि रूप से भी आत्मा ही होती है, अन्यथा अनात्मा कुछ नहीं देख सकेगी, न जान सकेगी। जब वासना से अन्तःकरण में दूसरा भाव उदय

होता है तभी वह बुद्धि रूप से ज्ञाता हो करके उस पदार्थ को ग्रहण करती है। अन्त:करण के कारण ही उन पदार्थों को ज्ञेय रूप से एवं चिदाभास अपने को ज्ञाता रूप से मानता है। जो धर्म आत्मा में नहीं थे वे धर्म चिदाभास बुद्धि के कारण आत्मा में कल्पित कर लिये जाते हैं। चिदाभास ही उन में अहं-मम् भी करता है और यही चिद्-जड़ ग्रन्थि है, यही जीव भाव है, यही अज्ञान है, यही अध्यास है। ऐसा होने पर भी यह निर्विकार, शुद्ध, मुक्तात्मा कहीं विकारी नहीं हुआ, किसी में फंसा नहीं एवं अशुद्ध हो बन्धन को भी प्राप्त नहीं होता है।

बाहर भीतर होकर आत्मा ही प्रकाशता है। फिर उससे बुद्धि को 'यह' 'यह' का ज्ञान होता है। जानने वाला भी वही है जिसे दृश्य रूप से जाना जा रहा है वह भी वही है।

यदि कहो कि जानने वाला जानी गई से, द्रष्टा दृश्य की तरह भिन्न ही होता है। जब द्रष्टा, ज्ञाता दृश्य तक, ज्ञेय तक फैलेगा नहीं तब तक वह ज्ञेय या दृश्य पदार्थ को जानेगा भी कैसे ? यदि वह दृश्य से दूर रहे तो फिर उसे किसी का ज्ञान, दर्शन ही न हो सकेगा।

वृत्ति चैतन्य एवं विषय उपहित चैतन्य का जब मिलन होता है तभी वृत्ति चैतन्य विषयाकार में प्रकट हो जाता है। यदि वृत्ति उपहित चैतन्य एवं विषय उपहित चैतन्य का अभेद न हो तब तो अन्तर पदार्थों एवं बाह्य पदार्थों का अपरोक्ष ज्ञान ही नहीं हो सकेगा। कुछ भी देखने, जानने में आयेंगे ही नहीं, क्योंकि वृत्ति उपहित चैतन्य की उन-उन पदार्थों से व्याप्ति अर्थात् एकत्व ही न होगा। आत्मा अन्तर बाह्य दोनों और प्रकाशता है। विषम रूप नहीं सम रूप होकर, अन्य रूप होकर नहीं बल्कि अभिन्न रूप होकर प्रकाशता है।

जब वह ही हर रूप होकर प्रकाशता है तब वहाँ दूसरा रहा ही

नहीं । तब अनुकूल-प्रतिकूल, ग्रहण-त्याग कुछ भी विरोधी ही न रहा । समस्त भेद तो यह अन्तःकरण की बुद्धि वृत्ति के कारण ही हमें मालुम पड़ते हैं कि यह ठीक नहीं है, यह ठीक नहीं हुआ, यह गलत है । ऐसा नहीं, ऐसा होना चाहिये था आदि विषमता प्रतीत होती है । तभी समस्त झगड़ा, रोना, गाना, दुःख अशान्ति होती है । है सब आत्मा ही । बल्कि केवल ज्ञान है, ज्ञाता नहीं । वह 'जानना' है, जानता नहीं । वह अपने आप में सर्व कल्पनाओं से शून्य बोध मात्र सत्ता है । परन्तु प्रत्येक कल्पना में आत्मा लहर जलवत भरपूर है । वह ज्ञेय व ज्ञाता की कल्पना से रहित भी वही है । वह एक ही सब कुछ है, लेकिन सब कुछ उसे छूता नहीं क्योंकि सब कुछ है ही नहीं ऐसा जो जानता है, वही तत्त्ववेत्ता ज्ञानी है । ज्ञाता, ज्ञेय की अपेक्षा से होता है जब ज्ञेय कुछ नहीं है तब उसे ज्ञाता भी नहीं कहा जा सकता । फिर जो शेष रहता है 'नेति-नेति' का साक्षी वह मन, वाणी का विषय नहीं है ।

जीवात्मा अन्तःकरण के धर्मों के साथ मिल करके अपने को दुःखी मानता है यह ही तो इसका विकारी पना है यही तो इसका चिदाभास पना है । यह बनता है, यह मिटता भी है, जाग्रत स्वप्न में होता है, सुषुप्ति समाधि में नहीं होता है । फिर जो कभी होता है, कभी नहीं होता, वह ज्ञाता, द्रष्टा, चिदाभास जीव मिथ्या ही है । आत्मा सदा एकरस हैं । चिदाभास जीव यह आत्मा नहीं है आत्मा जैसा लगता है तभी तो इसे चिदाभास कहते हैं । यह चिदाभास जब विवेक तलवार से कट जावे तो इसकी वृत्तियाँ रूप फौज भी हार मान भाग जावेगी । फिर दुःख, चिंता, कामना, शोक, मोह, भय भी नहीं रहेंगे ।

जैसे उठे, बैठे, लम्बे, चपटे आदि शीशे में देखने से दर्शक लम्बा, चपटा, नाटा, मोटा आदि प्रतिभासित होता है किन्तु वह व्यक्ति

वैसा होता नहीं है । इसी प्रकार अन्त:करण शीशे रूप वृत्ति में आत्मा भी वृत्ति अनुरूप ही सुखी-दु:खी, कामी, क्रोधी, मुढ़ ज्ञानी रूप प्रतीत होता है । किन्तु आत्मा वृत्ति अनुरूप प्रतिभासित होने पर भी वैसा आत्मा होता नहीं है । और यह क्षण-क्षण में बार-बार बदलने वाला चिदाभास, जीव, मिथ्या मैं है । यही अन्त:करण के धर्मों के साथ मिलकर अपने को कर्ता-भोक्ता, सुखी, दु:खी, मूर्ख, ज्ञानी आदि मानता है ।

जैसे कर्ण अपने पांचों छोटे भाईयों को अन्य जान, शत्रुओं की तरफ से उन्हें मारने, लड़ने खड़ा हुआ इसी प्रकार चिदाभास चिदात्मा का सगा भाई होते हुए भी विकारी अन्त:करण के साथ जा मिला है । जब इसे किसी गुरु की कृपा से इसका वास्तविक स्वरूप बताया जायगा तभी यह अन्त:करण जहाँ प्रतिबिम्बित हो रहा है उस देहध्यास का अहंकार तोड़ जिस बिम्ब आत्मा से यह है उसी में सोऽहम् निश्चय कर परमानन्द को प्राप्त हो सकेगा ।

प्रश्न-१४२: यदि हम परिच्छिन्न जीव नहीं तब क्या हम साक्षी मात्र है ?

उत्तर : नहीं ! तब हम अपने को साक्षी भी नहीं कह सकेंगे । साक्षी भाव भी बनता बिगड़ता रहने से नित्य नहीं है । जब किसी प्रकार की वृत्तियाँ उठती है तब ''मैं जानता हूँ, मैं सोचता हूँ'' यह सब बुद्धि की वृत्तियाँ है । और इन बुद्धि वृत्तियों के उदय-अस्त, उठने-मिटने, को जानने वाला भी कोई अवश्य है, जीसे साक्षी कहते हैं । तो वृत्ति का साक्षी आत्मा कब बनता है ? जब वृत्ति उदय होती है । बिना वृत्ति के सुषुप्ति में आत्मा तो है किन्तु तब साक्षी संज्ञा वाला नहीं होता है । लेकिन जो वृत्ति से है वह मायिक है । प्राकृतिक है । अत: इन्हीं प्रकृति का साक्षी है ।

साक्षी को उपद्रष्टा भी कहा है जो उदासीन भी होता है एवं दूर भी

नहीं रहता । जैसे यज्ञ शाला में एक पंडित उपद्रष्टा बना बैठा रहता है या जैसे आढ़ती माल खरीदने व बेचने वाले दोनों को जानता है स्वयं न खरीदता है न बेचता है । दोनों के बीच रहता है ।

वृत्ति से अपने को पृथक् मानने से भी अपने में परिच्छिन्नता नहीं आती, क्योंकि वृत्ति भी स्वयं उसी से प्रकाशित होती है । वह अपने को प्रत्येक वृत्ति से असंग एवं प्रकाशक ही मानता है ।

परिच्छिन्नता में आना ही आत्म हत्या है । यही सबसे बड़ा पाप है । जिसका कोई प्रायश्चित वेदों में नहीं है । कारण कि प्रत्येक प्रायश्चित की वृत्ति भी तो परिच्छिन्नता ही है । अत: यदि प्रायश्चित करना चाहे या करे तो भी परिच्छन्नता में ही रह जाता है, उससे छूटता नहीं ।

जैसे आकाश सर्वगत है, वैसे ही यह ज्ञान स्वरूप आत्मा अर्थात् हमारा स्वरूप अपना आप सर्वगत है ? फिर कहाँ और किससे परिच्छन्नता आ सकती है । अथवा कहाँ कोई कर्तृत्व की भावना आ सकती है । नहीं, वह इन सब से अछूता ही रहता है । जैसे सूरज सब पदार्थों का प्रकाशित करता हुआ भी सब से अछूता ही रहता है ।

तुम केवल द्रष्टा हो । लेकिन हम भोक्ता भी बन जाते हैं जैसे कि आज आनन्द नहीं आया, आज बहुत मजा आया, बहुत अच्छा लगा । जो भी द्रष्टा होगा वह अलग ही होगा । जो भोक्ता है वह उसी क्रिया का द्रष्टा नहीं हो सकेगा । अत: या तो द्रष्टा बन जाओ या भोक्ता । दोनों एक साथ नहीं हो सकते । एक व्यक्ति, किसी कार्य का या तो कर्ता बन सकता है या साक्षी । किन्तु तुम एक ही क्रिया का कर्ता एवं साक्षी दोनों नहीं हो सकते । लेकिन यह जीव भोक्ता एवं द्रष्टा दोनों बन ८४ के बन्धन में फंसता है ।

प्रश्न-१४३ : जब यह परिच्छिन्न जीव भी नहीं और साक्षी भी नहीं

तो फिर स्वरूप की पहचान कैसे होगी ?

उत्तर : यह स्वरूप प्राप्ति, स्वरूप साक्षात्कार के विचारों से मुक्त रहना स्वरूप स्थिति है । यदि साक्षात् ब्रह्म देखना हो तो एक छोटे बच्चे को देख अनुमान कर सकते हैं । जो रोता है उसी क्षण उसे भुलावा दे हंसा दिया जाता है । अश्रु आंखों में लटक भी रहे हैं एवं फिर वह खेलने भी लग जाता है । यदि जिज्ञासु इस तरह से असंग और समाहित है तो शान्त है, ब्रह्म है । अन्यथा कोई भी वृत्ति बनावेंगे तो फिर उस वृत्ति के साथ अध्यास ही हो जावेगा कि यह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ ।

किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति वह कब मिलेगा इस प्रकार वासना का भाव अपने सम्मुख प्रकट न होने दे यही पूर्ण ब्रह्मता है । लेकिन इस प्रकार वृत्ति के अभाव को भी तुम जानते हो । तुम्हारा होना वृत्ति के अभाव की अपेक्षा नहीं करता । वह स्वत: सिद्ध और नित्य है । अत: ब्रह्मता में किसी प्रकार के विषय वृत्ति अवस्था के होने से कोई रूकावट नहीं होती । बल्कि सब अवस्था वृत्ति इसी स्वयं सिद्ध ब्रह्म से ही सिद्ध होती है । जानना एवं न जानना तो बुद्धि का धर्म है । इस जानने व न जानने को भी जो जानता है वही आत्मा तुम हो 'तत्त्वमसि' ।

प्रश्न-१४४ : ज्ञानी जीवन की क्रियाओं में कैसे बरतता है ?

उत्तर : ज्ञानी की प्रवृत्ति प्रारब्धानुसार पूर्व से जैसे निश्चित है उसी अनुसार राग-द्वेष भेद रहित प्रकृति से होती रहती है । उन अच्छी बुरी क्रियाओं के होने पर भी इनमें कर्तृत्व एवं भोगतृत्व बुद्धि नहीं होती । अन्य लोगों की दृष्टि में वह कर्ता एवं भोक्ता प्रतीत होता है । लेकिन ज्ञानी अपनी दृष्टि में कर्ता भोक्ता नहीं होता । वह जानता है सुख-दु:खादि बुद्धि उपाधि के धर्म है ।

ये प्रारब्ध भोग अनुकूल अथवा प्रतिकूल अच्छे या बुरे आयें या

जायें मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है । तत्त्व दृष्टि से स्वयं निष्क्रिय होने से, नित्ययुक्त होते हुए भी निर्लेप हूँ ।

यदि ज्ञानी के प्रारब्ध अनुसार कोई दोष क्रिया असामाजिक कार्य हो जावे तो भी उस ज्ञानी के मन में उस कर्म के प्रति कर्तृत्वाभिमान नहीं होने के कारण उसके ज्ञान एवं मुक्ति फल का नाश नहीं होता । क्योंकि उसे मर्यादा उलंघन का भान ही नहीं है । जैसे परमहंस शुकदेव एवं हंसरूप व्यासजी ।

एक समय की घटना है जब शुकदेव यमुना किनारे से जा रहे थे उस समय उनके पिता उसके पीछे कुछ दूरी पर चले आरहे थे । उस समय गोपियाँ दिगम्बर यमुना में स्नान कर रही थी । शुकदेव युवक के वहाँ से निकल जाने पर किसी गोपीने लज्या नहीं कि वे उसी प्रकार नग्न स्नान करती रही । जब व्यास जी उन गोपियों के समीप से निकल रहे थे तो गोपियों को नग्नावस्था में स्नान करते आश्चर्य से देखा तो गोपियों ने अपने स्तन तक के अंगों को जल में छुपा लिया । तब व्यासजी ने मन में सोचा कि मेरे जवान बेटे को देख तो इन्हें लज्या नहीं हुई और मुझ बूढ़े को देख लज्या कर रही है । तब गोपियों ने व्यासजी के मनोभाव को जानकर उत्तर दिया - बाबा आप हंस हैं और आपका बेटा परमहंस है उसके लिये दिगम्बर एवं वस्त्र का भेद नहीं है ।

प्रश्न-१४५ : जीव भाव क्या है ?

उत्तर : जहाँ आत्मा का अपने द्रष्टा, साक्षी आत्म भाव को छोड़ प्रकृति के साथ संयोग हो जाता है, वही जीव भाव है, वही कर्म का कारण है एवं वही फल भोगने का हेतु है और वही जन्म-मरण का भी कारण है । प्रकृति पुरुष के संयोग सम्बन्ध से जीव भाव खड़ा होता है एवं पुरुष दुःख सुख का भोग करता है । गीता १३/१०

जन्म-मरण का कारण आत्मा नहीं, शरीर भी नहीं, प्रकृति भी नहीं। क्रिया भी नहीं। बल्कि प्रकृति दत्त क्रियाओं में कर्तृत्व बुद्धि ही एक मात्र हेतु है जिसे जीव कहते हैं ।

यदि यहाँ थोड़ीसी सावधानी करली जावे अर्थात् कर्म में कर्ताभाव का अहंकार न करे तो न वह कर्म बनेगा न फल बनेगा । और न इतना लम्बा झगड़ा ही उत्पन्न नहीं होगा ।

अत: थोड़ा सा भी द्वैत न आने दो । यह मत सोचो कि मैं ब्रह्म हूँ, मैं क्रिया करूँगा तो मुझे बन्धन नहीं लगेगा । प्रथम तो मैं ब्रह्म हूँ ऐसा मानने में भी प्रकृति का तुम्हारे (पुरुष) से संयोग हो गया फिर यदि तुम ब्रह्म हो तो ब्रह्म में न कोई अभाव है न कर्म है । किसी प्रकार की प्रवृत्ति का अवकाश तो द्वैत में होता है। जब प्रकृति एवं पुरुष (आत्मा) का सम्बन्ध ही नहीं बना तो आगे का भेद और फैलाव भी नहीं होगा। केवल वही रह गया। बस वही है। पहले भी वही था, अब भी वही रह गया, बीच में भी वही था। लेकिन भ्रान्ति से उसे ही द्वैत रूप में मान रहे थे द्वैत नहीं था, वही था । लेकिन बिना द्वैत में आये ज्ञान नहीं होता ।

निराकार परमात्मा के दर्शन होने का प्रश्न ही नहीं रहता। निराकार आकाश की लाख पूजा प्रार्थना करो वह कभी साकार मूर्त रूप हो नहीं सकता । जो भी साकार होगा वह नाशवान होगा । यदि एक आकार परमात्मा बनाले तो फिर शेष आकार कौन रहेगा ?

आकाश सब भूतों में रहते हुए उनके गुणों में लिपाय मान नहीं होता; क्योंकि वह स्वयं ही तो सब कुछ है । फिर आत्मा भी कैसे किसी विषय, वृत्ति अथवा इच्छा, वासना में लिपायमान हो सकता है ? जब स्वयं ही उस कर्म की अनुभूति का भी कारण है। कोई पदार्थ ऐसा नहीं जो आत्मा न हो । उसी का नाम पदार्थ तो व्यवहार के लिये रख लिया गया

है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु को आत्मा आत्मा कहने से काम नहीं चलेगा । जैसे सभी अलंकार स्वर्ण है किन्तु व्यवहार चलाने हेतु भिन्न-भिन्न नाम कल्पित किये गये हैं । स्वर्ण-स्वर्ण कहने से तो किसी अलंकार का ग्रहण त्याग नहीं हो सकेगा । जब सारा जगत् ब्रह्म ही है तो सब रूपों में वही तो प्रकट हो रहा है । आकाश, प्रकाश, पवन, वर्षा गरीब अमीर के महल व झोपड़ी का अन्तर नहीं करता ।

परन्तु हम लोग कभी-कभी यह सोचने लग जाते हैं कि अभी क्रोध आता है, लोभ होता है, काम चिन्तन क्यों हो जाता है ? अभी हमें आत्मज्ञान हुआ है यह कैसे मान लें ? यदि आत्म ज्ञान हो जाता, देह भाव छुट जाता तो यह काम वासना न होती । हमेशा साक्षी असंग भाव नहीं रहता । न चाहने पर भी चंचलता क्यों आ जाती ? यह जगत् भासने क्यों लगता है ? इत्यादि । परन्तु हम यह बात भूल जाते हैं कि सब जगह, सब रूपों में, सभी अवस्था एवं क्रियाओं में मैं ही तो हूँ । कोई ऐसा विचार, क्षण, क्रिया तो बताओ जब मैं न रहता हूँ और मेरे बिना यह विचार, क्रिया रहते हो । जब यह मेरे बिना है ही नहीं तब अस्तित्व मेरा होगा इनका नहीं जैसे रस्सी में सांप भ्रान्ति से दिखता है । है नहीं, इसी प्रकार यह विचार, वृत्ति, क्रिया मुझ में है नहीं भ्रान्ति से दिखाई पड़ते हैं । ऐसा ज्ञानी अपने को स्वर्ण वत् जानते हैं उसकी शिकायत नहीं करते हैं जो अलंकार उनमें नहीं है ।

इससे बढ़कर श्रेष्ठ एवं सरल क्या ज्ञान होगा ? यही तो आत्मा है । यही तो अपने आप की पहचान है । यह आत्मा बुद्धि की समझ में आने वाली अवस्था नहीं है । यह तत्त्व इतना सूक्ष्म है कि समझ में नहीं आ सकता । अगर कुछ समझ में आ रहा है तो वह आत्मा का नहीं है वृत्ति का बनाया हुआ है । स्वरूप ज्ञान नहीं है । जब भी कुछ समझ में आ रहा है

तो उसे परिच्छिन्न ही बना रहा है ।

लेकिन यह जीव नित्य विद्यमान ''मैं'' आत्मा को नहीं पहचानता जबकि यह ''मैं'' हमेशा सब के आगे प्रथम ही रहता है ? जहाँ कुछ भी देखा, सुना, जाना या बनाया यह मैं उससे भी पहले विद्यमान रहता है । फिर ऐसे मैं को, नित्य मैं को जो सब घटना, विचार, क्रिया से प्रथम है उसे कौन नष्ट कर सकेगा या बन्धन में डाल सकेगा ? इस ज्ञान से तो करोड़ों जन्मों के असंख्य कर्म समूल नष्ट हो जाते हैं । मुझको आज तक कोई छू नहीं सका, क्योंकि मेरे अलावा अन्य कोई नहीं है । अत: जिस तरह भी है वह मैं एक ही हूँ ।

प्रश्न-१४६ : सम्यक् दृष्टि किसे कहते हैं ?

उत्तर : एक ब्रह्म को ही सर्वरूप देखना ब्रह्म के अलावा अन्य सत्ता को निश्चय से अस्वीकार करना ही सम्यक् दृष्टि है । इसीलिये कहा कि सम्यक् दृष्टि रखो ।

'सियाराम मय सब जग' 'जित देखूँ तित श्याम', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब अनुभवी ज्ञानी संतों की निष्ठा के प्रतीक रूप है ।

सम्यक् दृष्टि का तात्पर्य है अपने आप को सर्वत्र भरपूर देखना इसी को कूटस्थ ब्रह्म भी कहते हैं । जैसे मिश्री में सर्वत्र मिठास घन है इसी प्रकार सर्वत्र आनन्द घन ब्रह्म ही है इसके सिवा अन्य कुछ नहीं । अपने आप में पूर्ण दृष्टि एवं अन्य सत्ता का मन में अभाव रूप निश्चय करने वाला ज्ञानी कहीं आसक्त नहीं होता न किसी की इच्छा करता है न उस ज्ञानी के लिये किसी का अभाव ही रहता है ।

सर्वत्र अपना आप देखने से, सर्वत्र ब्रह्म देखने से द्वैत नहीं रहता । मैं-मेरा सामने आया तो जीव भाव खड़ा हो गया । फिर स्वरूप में गिर गया

। अत: सर्वत्र समदृष्टि रखनी चाहिये । यही बन्धन निवृत्ति एवं जीव भाव का लय है ।

प्रश्न-१४७ : यदि मैं आत्मा, असंग, अकर्ता, अभोक्ता है तब अन्य के अभाव में कौन कर्ता एवं भोक्ता है ?

उत्तर : भोक्तापने की भ्रान्ति हो रही है । आत्मा शुद्ध और निरधर्मक होने से न कर्ता है न भोक्ता है । फिर आत्मा ही सर्व है अद्वय है तब किसका भोग कर भोक्ता बने ? उधर आत्मा के बिना देह, इन्द्रिय, प्राण तथा अन्त:करण जड़ है वे स्वतंत्र भोक्ता नहीं हो सकते । अत: अन्त:करण एवं आत्मा के मिलन से उत्पन्न चिदाभास जीव ही कर्ता भोक्ता हो सकता है अन्य नहीं । अथवा कोई भोक्ता है ही नहीं द्वैत के अभाव में भोक्ता मात्र भ्रान्ति ही है ।

चेतन का जड़ के साथ कभी सम्बन्ध नहीं हो सकता जैसे सूर्य का रात्रि से सम्बन्ध नहीं रहता । लेकिन यह मन जो मिला हुआ सा प्रतीत होता है, यही चिदाभास है । इसे जीव कहो, मन कहो, आभास कहो या इन सबका समूह कहो वही भोक्ता है । इससे जो अलग, शुद्ध, निरधर्मक आत्मा है । उसे भोक्ता कह नहीं सकते किन्तु ''वह असंग है'' यह भी तो मन इन्द्रियाँ ही कह रही है । और भी जो इस प्रकार सोचा जा रहा है वह आभास ही है । वह आत्मा नहीं ।

जब तक कोई भी सजातीय, विजातीय विचार रहेगा, कल्पना रहेगी उसका ज्ञाता, द्रष्टा मन भी उसके साथ रहेगा । अन्यथा उसके बिना केवल चेतन द्वारा कोई विचार भी नहीं उठ सकेगा । जब विचार नहीं रहता है तब मन भी नहीं रहता है । जब मन नहीं रहता तब हम कुछ भी भाव प्रकट नहीं कर सकते, कुछ भी विचार नहीं कह सकते । बोलना भी सम्भव नहीं हो सकता, खाना-पीना भी मन की ही उपस्थिति पर सम्भव

होता है मन के मुर्च्छित होने पर कुछ भी क्रिया सम्भव नहीं हो पाती । यद्यपि हमारा अभाव नहीं होता है, हमारा अस्तित्व तो ज्यों का त्योंही बना रहता है । लेकिन मन, बुद्धि, चिदाभास जीव के अभाव में कहां भी नहीं जा सकता । यदि कुछ कहेंगे तो फिर वह कोई विचार ही हो जावेगा, आरोप ही हो जावेगा । यद्यपि हमारा स्वरूप मन, वाणी का विषय नहीं है । जैसे दृष्टि को देखा नहीं जा सकता तो भी उसे इन्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसी से ही तो सब कुछ देखा जा रहा है । इसी प्रकार आत्मा देखने जानने का विषय नहीं है तो भी उसके अस्तित्व को इन्कार नहीं किया जा सकता । क्योंकि उसी की सत्ता से सब कुछ देखा, जाना, समझा जा रहा है । अत: वह कब नहीं था ? वही हमारा नित्य एकरस कूटस्थ असंग आत्म स्वरूप है । वास्तविक अभोक्ता वाणी से कहा नहीं जा सकता ।

आत्मा स्वयं ही सब कुछ है तो किसका भोग करे ? अत: ये धर्म, अधर्म अथवा सुख दु:ख भोगना या न भोगना इन मन, बुद्धि इन्द्रिय आदि का है । ये ही इनके भोक्ता है । अत: भोक्ता हुआ देहसंघात् लेकिन उसमें जो व्याप्त भी है और अलग भी है, वह अभोक्ता है, वह आत्मा है । उपाधि द्वारा ही भोग होगा, आत्मा उपाधि वाला होने पर भी भोक्ता नहीं है ।

भले ही शुभाशुभ सकंल्प उदय हो जाये, तुम प्रकाशक असंग एवं पवित्र ही हो । वे तुम्हारे प्रकाश से ही प्रकाशित हो सके, वरना उनकी गन्ध भी न मिलती । फिर तुम्हारे ही आधीन, शरणागत, उप जीवियों से तुम्हारा क्या बिगाड़ ?

बल्कि संकल्पों का होना भी जरूरी है । क्योंकि बिना मन के ज्ञान स्वरूप आत्मा का भी पता नहीं लगता । आत्मा तो निर्गुण निराकार है

उसका स्वयं से स्वयं को ज्ञान होना सम्भव नहीं होता ।

बल्कि तुम ही हर विचार, संकल्प, हर दृश्य के रूप में होते हो जब ऐसी सर्वात्म दृष्टि हो गई, जब विषय, इच्छा करता मन आत्म रूप हो गये तब तुम मुक्त हो पवित्र हो । यही सर्वात्म ब्रह्मदृष्टि या सम्यक् दृष्टि है ।

प्रश्न-१४८ : जीव ब्रह्म कैसे कहा जाता है ?

उत्तर : इसे समझने हेतु 'तत्त्वमसि' महावाक्य के तत् पद एवं त्वम् पद के वाच्यार्थ एवं लक्षार्थ को समझना होगा । वाच्यार्थ एवं लक्षार्थ को समझने हेतु लक्षणा को जानना होगा । लक्षणा ज्ञान के लिये प्रथम वृत्ति को समझना होगा ।

वृत्तिः शब्द का अर्थ के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसे वृत्ति कहते हैं । जैसे गाय कहते ही गाय की सूरत शकल मन में आजाती है । शिव सुनते ही शिव का स्मरण राम, कृष्ण कहते ही राम, कृष्ण की शकल उदय हो जाती है ।

वृत्ति के दो भेद है - (१) शक्ति वृत्ति, (२) लक्षणावृत्ति । एक सीधी वृत्ति और दूसरी टेड़ी वृत्ति । शब्द के साथ सीधा सम्बन्ध होने से वह शक्ति वृत्ति कहलाती है । जैसे राम कहने से राम का सम्बन्ध होता है, कृष्ण का नहीं । कृष्ण कहते कृष्ण से सम्बन्ध जुड़ जाता है राम का विचार मन में नहीं आता है ।

लक्षणा वृत्ति :- जहाँ शब्द का तात्पर्य से ग्रहण किया जाता है । जैसे रसोई घर में बैठे व्यक्ति से कहा जाता है कि बिल्ली को मत घुसने देना । अब इसका अर्थ कुत्ता, चूहा, कौवा, बिल्ली आदि किसी को भी नहीं आने देना ।

नल आगया इसमें नल का अर्थ पानी लक्षणा वृत्ति से जाना गया

।

जहाँ शक्ति वृत्ति से अर्थ स्पष्ट न हो वहाँ लक्षण वृत्ति करना पड़ती है ।

''मैं ब्रह्म हूँ'' इससे शक्ति वृत्ति से अर्थ स्पष्ट नहीं होता क्योंकि अल्पज्ञ, सर्वज्ञ, अल्पशक्ति, सर्वशक्ति, बन्ध, मुक्त, दुःखी-सुखी भेद प्रतीत होता है । जीव ब्रह्म एक कैसे हो सकते हैं ? यहाँ भाग त्याग लक्षणा वृत्ति करना होगी विरोधी अंश को छोड़ कर अविरोधी को ग्रहण करना होगा ।

जीव में दो अंश है एक कल्पित अंश एक सत्य अंश । इसमें कल्पित का त्याग करो एवं सत्य को ग्रहण करो । मैं खाता-पीता, चलता हूँ । यह 'मैं' का वास्तविक स्वरूप नहीं है यह वाच्यार्थ है इस नकली मैं को ऐसे समझो जैसे दर्पण, प्रतिबिम्ब एवं बिम्ब तीन वस्तु है ।

दर्पण उपाधि है, आप विम्ब है एवं दर्पण में भासने वाला आपका मिथ्या रूप जिसे प्रतिबिम्ब कहते हैं ।

यहाँ जीव में भी तीन चीजे हैं ।

अविद्या अन्त:करण उपाधि, प्रतिविम्ब जीव तथा विम्ब साक्षी (कूटस्थ, सामान्य चेतन)

साक्षी विम्ब का अन्त:करण में जो प्रतिविम्ब पड़ता है उसे चिदाभास कहते हैं साक्षी अन्तःकरण तथा आभास यह तीन चीजे हुई ।

इन तीनों का मिलाकर जीव कहते हैं । यह जीव का वाच्य स्वरूप है ।

इन तीनों को मिलाकर बदल-बदलकर आप मैं बताते रहते है । मैं मदन लाल यह तो स्थूल देह है, मैं चलता हूँ, यह तो इन्द्रियाँ है । मैं

दु:खी हूँ यह मन का धर्म हैं । अज्ञानी इन तीनों परधर्म में अहंकार करते हैं ।

स्वप्न का जो साक्षी है वह ब्रह्म है । यह भी आप कहते हैं कि मैंने स्वप्न देखा । यह मैं तो सत्य है मैं स्वप्न का साक्षी हूँ । नीदं को जो जानता है वह सदा जाग्रत आत्मा आप है । मन, बुद्धि चित्त अहंकार को जो जानता है वह साक्षी है । तीन अवस्था को जो जानता है वह साक्षी है ।

नीदं से जागने पर बेहोशी से होश में आने पर आप किस से पूछते हैं कि मेरी नीदं टूटी या नहीं । मुझे होश आया या नहीं ?

आप किसी से नहीं पूछते हैं, क्योंकि यहाँ आप स्वयं जानते हैं । आप यदि सो जाते बेहोश हो जाते जाग्रत नहीं होते तो फिर इस बेहोशी को कैसे जानते ? नीदं टूट गई इसे कैसे जानते ? आप जानते है इसका यह अर्थ हुआ कि एक यहाँ जानने वाला है जो कभी सोता नहीं सदा जाग्रत रहता है और सब अवस्थाओं का प्रकाशक है उस साक्षी को ही अपना स्वरूप निश्चय करो सोऽहम् ।

यह जीव का लक्ष्यार्थ सत्य स्वरूप है ।

भेद वादी चिदाभास तक जाकर ही रूक जाते है साक्षी तक नहीं पहुँच पाते हैं ।

किन्तु जीव में तीन बात है ।

अन्त:करण, साक्षी एवं चिदाभास इन तीन को मिलाकर जीव कहलाता है ।

भागत्याग लक्षणा से कल्पित अंश मिथ्या अंश को त्याग करें । उसे अपना असली मैं न समझे । कल्पित को कल्पित ही समझे ।

शरीर के लिये- मेरा शरीर मोटा, दुबला, लम्बा, नाटा, गोरा, काला, जवान कहते हैं तब जो मेरा है वह मैं नहीं हूँ ।

इन्द्रियाँ भी मेरी है मेरी आंख, मेरी नाक तो इन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ ।

जो दिखाई पड़ता है उसे साक्ष्य एवं देखने वाले को साक्षी कहते हैं । दृश्य एवं द्रष्टा भी इसे कहते हैं ।

देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि सभी साक्ष्य है एवं हम जानने वाले साक्षी है ।

जो मैं कह रहा हूँ समझ में आरहा है, हाँ या नहीं आरहा है ? यह समझना बुद्धि का धर्म है आप बुद्धि के साक्षी है, बुद्धि नहीं ।

आप अज्ञानी भी नहीं आप अज्ञान को भी जानते हैं आप अज्ञान के साक्षी अज्ञान साक्ष्य है ।

स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर को साक्ष्य जानो आप उनके साक्षी है । उपाधि को हटाओ, चिदाभास को हटाओ एवं साक्षी को ग्रहण करो । यह साक्षी ब्रह्म है । भागत्याग लक्षणा द्वारा विरोधी अंश अन्त:करण उपाधि एवं चिदाभास को छोड़कर जो शेष रहता है अधिष्ठान जीव साक्षी यह ब्रह्म है ।

जब कहा जाता है जीव ब्रह्म है तब भाग त्याग लक्षणा का विचार कर अन्त:करण उपाधि एवं चिदाभास का मन से त्याग कर उसे मिथ्या जान कर शेष रहे जीव साक्षी कूटस्थ आत्मा को ब्रह्म कहा जाता है ।

मन की चाह समस्त दु:खों कि आत्यान्तिक निवृत्ति तथा परमानन्द की अनुभूति है जो किसी भी कर्म द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती ।

बीमार रहे एवं बिमारी चली जावे यह चाहते हो तो बीमारी फिर आ जावेगी ।

वेदान्ती संत तो बीमार को ही समाप्त कर देता है दूसरी बार फिर बीमारी ही न हो ।

जीवभाव जब तक समाप्त नहीं हुआ है तब तक तुम आत्म निष्ठ नहीं हुऐ । जन्म-मरण चक्र नहीं छूटा ।

प्रश्न-१४९ : चारों वेदों का तात्पर्य क्या है ?

उत्तर : चार वेदों में ऋग्वेद सब से प्राचीन है प्रत्येक वेद में तीन भाग होते हैं मंत्र संहिता, ब्राह्मण एवं आरण्यक । वेद मंत्रों के संग्रह को संहिता कहते हैं । ब्राह्मण भाग में धार्मिक कर्तव्यों का विधान किया गया है । संहिता भाग में दिये गये मंत्रों का व्यावहारिक प्रयोग शिक्षा देना ही इसका मुख्य प्रयोजन है । आरण्यक का स्थान ब्राह्मण एवं उपनिषद के मध्यवर्ती है ।

ब्राह्मण भाग कर्म काण्ड प्रधान है तो आरण्यक मंत्र भाग में वेदान्त ज्ञान मुख्य है । वानप्रस्थी अरण्य निवासी के जीवन मुक्ति हेतु है । इस भाग में वेदों के मंत्रों का संग्रह कर केवल ज्ञान सम्बन्धी मंत्रों को रखा है । आरण्यक भाग को उपनिषद कहा जाता है जिसमें जीव का ब्रह्म के साथ एकत्व दर्शाया गया है ।

वेद की रचना काल के सम्बन्ध में कोई निश्चित समय का प्रमाण नहीं मिलता है केवल कल्पना द्वारा ४०००-४५०० वर्ष पूर्व बताया जाता है ।

उपनिषदों की संख्या का अनुमान लगाया जाता है कि वे १००० से ११८० के मध्य है जिन में से अधिकांश लुप्त हो चुके हैं । मुख्य १३ हैं

। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डुक्य, तैत्तीरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, ब्रह्मदारण्यक, श्वेताश्वतर, कौषितकी, मैत्री । इन तेरह में भी शंकराचार्य के प्रथम १० उपनिषद के ही शंकर भाष्य प्राप्त होते है ।

उपनिषद शब्दार्थ (उप-नि-षद) निकट बैठना अर्थात् जो गूढ़ तत्त्व एकान्त में गुरु शिष्य के मध्य श्रवणीय, मननीय है उसे उपनिषद कहते हैं । यह अपने मन से पढ़कर समझने जैसा ज्ञान नहीं ।

'आचार्यवान् पुरुषो वेद:'

जो व्यक्ति इस ब्रह्मज्ञान उपनिषद विद्या को सद्गुरु द्वारा सोऽहम् रूप से ग्रहण कर लेता है उसको पुन: मातृ गर्भ में प्रवेश नहीं करना पड़ता । उसका जन्म-मृत्यु बन्धन समाप्त हो जाता है । अथवा संसार के बीज रूप अविद्या का कारण सहित नाश करने के कारण उपनिषद कहा जाता है ।

ब्राह्मण युग में स्वर्ग प्राप्ति हेतु यज्ञ में रुचि विशेष रहती थी । ज्ञानी वैराग्यवान् स्वर्गादि लोक भोग को तुच्छ समझ आत्म साक्षात्कार में रुचि रखते थे इस कारण वे कर्म, उपासना को त्याग कर आत्म ज्ञान की ही अभिलाषा करते हैं । अज्ञानी कर्म, उपासना यज्ञादि साधन को अपनी कामना पूर्ति हेतु करके बन्धन को ही प्राप्त होता है ।

कर्म, उपासक सदा बहिर्मुख एवं ज्ञानी आत्म विचारक अन्तर्मुखी बना रहता है ।

ज्ञानी विचार करता है कि जीवन ही एक यज्ञ है जिसमें प्राण एवं अन्न की आहुतियाँ नित्य पड़ती रहती है ।

'नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' गीता ३/१५ तथा छान्दोग्य उपनिषद में भी कहा है कि प्राण की आहुति द्वारा अन्तर्यज्ञ ही श्रेष्ठ यज्ञ है । इस

अन्तर्यज्ञ को न जानकर, इसमें श्रद्धा न कर घी, जौ, तिल, चन्दन, कर्पुर आदि बाह्य सामग्री द्वारा यज्ञ करना ऐसी मूढ़ता का कार्य है जैसे कोई मिट्टी में आहुती दे रहा है । सोऽहम् प्राण-अपान आहुति द्वारा जीव के समस्त पाप एवं संचित् क्रियमाण कर्म ज्ञानाग्नि में लकड़ी की तरह जल कर भस्म हो जाते हैं । अन्तर्यज्ञ अर्थात् 'सोऽहम्' ज्ञानवान् पुरुष को भिक्षा में चाण्डाल के द्वारा उच्छिष्ट देने पर भी अग्नि में होम करने के समान माना जाता है अर्थात् उसे पाप स्पर्श नहीं करता है ।

ब्राह्मण युग में धर्म ही पुरुषार्थ रूप स्वीकृत हो रहा था इसलिए वे कर्म काण्ड पूजा, उपासना एवं यज्ञ आदि साधनों द्वारा संसार की उन्नति धन, पुत्र, आयु एवं स्वर्ग सुख को प्राप्त करने को ही पुरुषार्थ मान संसार चक्र में भ्रमण करते दुःख पाते रहते थे ।

जबकि वेदान्त इस लोक एवं परलोक के समस्त सुखों से वैराग्यवान् को ही समस्त दुःखों के मूल अज्ञान का नाश ज्ञान द्वारा करके आत्मानुभूति का अधिकारी मानता है ।

प्रश्न-१५० : वर्तमान में सुखी होने के लिये क्या करे ?

उत्तर : सुख एक रोग है इसका उपचार है । यदि हम सुख को अन्य के लिये बांट दें अपने पास न रहने दें तो दुःख हमारे पास कैसे आ सकेगा, उसके लिये नष्ट करने को कुछ बचेगा ही नहीं तो दुःख कैसे दे सकेगा ? दुःख का काम तो केवल सुख को नष्ट करना मात्र है । वह सुख हमने पहले ही बांट दिया अब धन ही नहीं तो चोर क्या चुरा सकेगा एवं हमें कैसे शोकातुर बना सकेगा ? कभी नहीं ।

बुद्धिमान भर्तृहरि, कुन्ती एवं भक्तों ने परमात्मा से दुःख की मांग की । जैसे रोग का उपचार करने वाले डॉक्टर को धन्यवाद देते हैं, सम्मान करते हैं, फीस भेंट देते हैं । इसी प्रकार सुख, अभिमान, सौन्दर्य की इच्छा

करने वाले को दु:ख, अपमान, बीमारी, निंदा को सम्मान सहित स्वीकार करना ही होगा ।

अज्ञानी व्यक्ति उल्टा ही अर्थ करता है वह दु:ख, रोग, अपमान, निंदा को दुर्भाग्य मानता है । जब कि सच्चे कल्याण चाहने वाले कहते हैं —

सुख के साथे सिल परे नाम हृदय से जाय ।
बलिहारी वा दु:खकी, पल पल नाम रटाय ।।

दु:खों से गर चोंट खाई न होती ।
तुम्हारी प्रभो याद आई न होती ।।

सुखते ही दु:ख होते है, दु:ख ते होत विचार ।
तब ही आवत ज्ञान है, खोलत मुक्ति द्वार ।।

दु:ख उसी को आते रहते हैं जो सुखों को स्वीकार कर चुका है । चोरी भय उसी व्यक्ति को होता है जो धन संग्रह कर सुख की भ्रान्ति बनाये बैठा है । हमें चाहिये हम सुख आते ही, धन आते ही उसे लोक कल्याणार्थ बांट दे । फिर हमे धन नाश का भय नहीं रहेगा फिर दु:ख नहीं होगा ।

एक माली ने बगीचे में पौधे लगाये कोयल बुल बुल उसके रूप माधुर्य में फंस गई । मालीने पुष्प तोड़ लिया बुलबुल दु:खी हुई शोक ग्रस्त हुई रोने लगी लेकिन वह यह नहीं जानती थी कि पौधा माली ने लगाया, पानी माली ने दिया, सुरक्षा माली ने की तब उस पुष्प पर तो माली का ही अधिकार रहेगा । भूल तो उस बुलबुल की ही है जिसने पुष्प में आसक्ति करली । इसी प्रकार परमात्मा के बनाये पाले मानव में अज्ञानी जीव अहंता-ममता करलेता हैं एवं परमात्मा जब उस रूप को अपने पास बुला लेते हैं तो अज्ञानी रोता है ।

जीव की समझदारी इसी बात में है कि जिस दिन सन्तान पैदा हो उसी दिन से उसकी बढ़ती हुई उम्र में मृत्यु की समीपता देखता रहे तो एक दिन मुर्च्छित होकर रोना नहीं पड़ेगा । क्योंकि उस अन्तिम क्षण में तो वह मृत्यु की आखरी सीमा आगई । मृत्यु का प्रारम्भ तो जन्म के क्षण से ही प्रारम्भ होगया था । इस प्रकार जो जन्म का हर्ष नहीं मनावेगा उस ज्ञानी को मृत्यु का शोक भी नहीं भोगना पड़ेगा ।

हमारा परिवार परमात्मा का उत्पन्न किया हुआ सुन्दर बगीचा है । हमको सम्बन्धी रूपी फूलों में अनाधिकार पूर्वक ममता नहीं करनी चाहिये और न ही उनके संयोग के रस को ग्रहण करना चाहिये । हमारे लिये यही विचार करना उत्तम है कि यह सम्बन्धी प्रभु के बाग के फूल हैं; प्रभु ही इनका माली है, वह जब चाहे इन फूलों को तोड़कर अपने चरणों में चढ़ा ले उसकी मर्जी हैं उसकी कृपा है, उसका यह प्रेम है । किन्तु सम्बन्धी रूपों में अपना हृदय समर्पित करदेना हमारी महान भूल है । नाशवान वस्तु के रस का संयोग हमे कब तक मिल सकेगा ? अन्त; में वियोग तो निश्चित है ही, फिर क्यों उसके प्राप्ति में सुख माने । शरीर में है ही क्या हमें मोहित करने को ? आत्मा ही तो है अन्यथा मृत सुन्दर शरीर को कोई नहीं जलाते । किन्तु प्रियातिप्रिय पत्नी-पति, पुत्र, पिता, माता मृतावस्था में डरावने दिखाई देने लगते हैं फिर उसे देखना, छूना, रखना भी नहीं चाहते हैं । आत्म ज्योति का प्रकाश था वह प्रारब्ध तेल के समाप्त हो जाने से बुझ गया है । फिर वही आत्मा तो तुम हो । फिर क्यों दुःखी होते हो +-

प्रश्न-१५१ : हिंसा का क्या फल मिलता है ?

उत्तर : जो दूसरों को जितनी पीड़ा पहुँचाता है, उससे कई गुना अधिक कष्ट हिंसक को मृत्यु के समय होता है । वे नीच, पामर छटपटाते हुए, असहनीय वेदना से कराहते रहते हैं । मृत्यु देवता भी उस पर उस

समय किसी प्रकार की दया नहीं दिखाते हैं। जब तक हिंसा का फल नहीं भोग लेते उनकी मृत्यु नहीं होती हैं।

साथ ही वर्तमान जीवन में की गई हिंसा के परिणाम स्वरूप नीच योनियों को प्राप्त होकर अनन्तकाल तक असहनीय वेदना युक्त अज्ञान, अन्धकार से घिरे हुए घोर नरक-दुःख को सहन करते हैं। इस जीवन में हिंसा का फल जितना मिलता है उसके अतिरिक्त फल शेष भावी जीवन में मिलता है।

वेद में भगवान ने दण्ड व्यवस्था के लिए कहा है कि -

यः पौरूषेयेण क्रविषा समङ्ते यो अख्येन पशुना यातुधानः।
यो अध्याया भरति श्रीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च॥

भावार्थ - जो राक्षस मनुष्य, घोड़ा, गाय, भैंस, बकरा, भेड़, हिरण व अन्य जंगली जानवरों को मारकर मांस खा जाते हैं और अपने उदर का पोषण करते हैं ! जो मुर्गी मछली व सब प्रकार के पाक्षियों और उनके अण्डों का सेवन करके अपने पेट को कब्र बना लेते हैं। गौमाता अपनी माता से भी बड़ी माता है। क्योंकि जिन बालाकों के माता की मृत्यु हो जाती है तब उन नव जात शिशुओं के जीवन रक्षा गौ दुग्ध पान द्वारा ही होती है। इसलिए जिसे किसी भी प्रकार की पीड़ा पहुँचाना घोर पाप है, उस गौमाता को मारकर उसके मांस से अपने शरीर को जो पुष्ट करते हैं साथ ही गाय का अमृतमय दुध उसके प्यारे बछड़े के लिए न छोडकर सम्पूर्ण दुध निकालकर उस बछड़े के प्रति अन्याय करते है, उसे भूखा रखते है, उसको भी मारकर खा जाते हैं, उनके गर्दन को धड़ से अलग कर देना राजा को उचित है। यह कार्य तेजस्वी राजा ही कर सकता, राजा ब्रह्मचर्य व धर्म से अपने तेज को बढ़ावे और अपने तेज से राक्षसों का विनाश करे। जैसे - भगवान् राम और भगवान् कृष्ण जी महाराज राक्षसों का विनाश

किया करते थे ।

यह व्यवस्था इस लोक की है, परमेश्वर की व्यवस्था में जो जितनी बार जितने प्राणियों का मांस खावेगा, उतनी बार उसी योनी में जन्म लेकर उसी प्रकार काटा व खाया जायेगा । घोर नरक में निवास करके दुखों को भोगेगा ! अत:(''पय: पशुनाम्-रस ओषधिनाम्) पशुओं का उचित मात्रा में दुध तथा ओषधियों का रस ही लेना चाहिए ।

मन में जितने भी बूरे भाव हैं, तथा दूसरों को पीड़ा पहुँचाने का भाव है, मांस भक्षण और रक्त पान का भाव है या अन्य सब प्रकार के दुष्ट भाव हैं, वे सब दूर करने योग्य है हिंसक की विजय कभी नहीं होती है । विजय उसी की होती है जो पूर्ण अहिंसक है, जो सबका रक्षक है, जो किसी का भी भक्षक नहीं है, उसी की विजय होती है । '**सत्यमेव जयते**'

वेद भगवान् कहते हैं सम्पूर्ण उत्साह मार काट में नष्ट न करो बल्कि उसे महत्व के लिए व्यय करो ।

धन और बल को दूसरों की रक्षा में लगानेवाला विजय को प्राप्त करता ही है फलता-फूलता भी है, उसकी समृद्धि बढ़ती ही चली जाती है ।

जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है; जो धर्म की रक्षा नहीं करता धर्म उसको मार देता है । सबकी रक्षा करना ही धर्म है । जैसा दूसरें मनुष्यों व प्राणियों से अपने प्रति व्यवहार चाहते हो, वैसा ही व्यवहार दूसरे प्राणियों व मनुष्यों के साथ करो । वे भी तुमसे वही अपेक्षा करते हैं । अहिंसा ही परम धर्म है । जैसे परमेश्वर पूर्ण अहिंसक है, उसे पाने के लिए तुम भी पूर्ण अहिंसक बनो । हिंसा भाव और अंहिसा भाव दोनों ही मानव की बुद्धि के क्रमश: पतन और उन्नति के कारण होते हैं ।

कुबुद्धि दुर्मति से हिंसा होती है, सुबुद्धि सुमति से अहिंसा होती है । इसलिए भगवान् कहते हैं कि हिंसा करने वाली बुद्धि नहीं बल्कि, अहिंसा का पालन करने वाली उत्तम बुद्धि उत्पन्न हो, बढ़े, जिससे धर्म की रक्षा हो । सबके साथ स्वात्मवत् व्यवहार बढ़े प्रीति पूर्वक भाई-भाई की तरह व्यवहार करें ।

अहिंसा योगभवन के नींव के नीचे की चट्टान है योग वृक्ष की जड़ है, जो वृक्ष को रस पहुँचाती है और उसे स्थिर रखती है । अहिंसा वृति का पालन करने वाला निश्चय ही परमेश्वर के आनन्द को प्राप्त हो जाता है ।

पद्मपुराण उत्तरखण्ड गीता माहात्म्य अध्याय १८० में भगवान् शंकर-पार्वती जी से कहते हैं कि -

माहिष्मती नाम के एक नगर में माधव नाम का कर्मकाण्डी ब्राह्मण रहता था (उसने अपनी किसी मनोकामना की पूर्ती के लिए एक महान यज्ञ का अनुष्ठान किया । उस यज्ञ में बलि देने के लिए एक बकरा मँगवाया गया । जब उसके शरीर की पूजा हो गई और उसे काटने के लिए हाथ में तलवार उठाई तब वह बकरा उस ब्राह्मण की तरफ देखकर जोर से हंसने लगा और कहा हे ब्राह्मण-इन अनित्य यज्ञों के द्वारा मिलनेवाला फल, स्वर्ग आदि नाश हो जानेवाले हैं । ये अनित्य कर्म जन्म-मृत्यु के भी कारण है, इन अनित्य कर्मो के द्वारा मोक्ष नहीं हो सकता । और मैं भी तेरी तरह एक उच्च कोटी के ब्राह्मण घर में पैदा हुआ था ! बकरे के वचन को सुनकर यज्ञ मण्डप में उपस्थित सभी लोग बहुत आश्चर्यचकित हुए तब वे यजमान ब्राह्मण हाथ जोड़ बकरे को प्रणाम करके श्रद्धा और आदर के साथ पूछते लगे -

आपको किस कारण से यह बकरे की योनि में जन्म लेना पड़ा

यह सब मुझे बताइए ।

बकरा बोला - हे ब्राह्मण में भी तुम्हारी तरह अपने बालक के रोग की शान्ति के लिए बलि देने के निमित्त एक बकरा लाया था और चण्डीका के मन्दिर में उस बकरे को मार बलि चड़ाने पर उस बकरे की माता ने मुझे श्राप दिया - ओ ! ब्राह्मणों में नीच, पापी तू मेरे बच्चे का वध कर दुःखों से कदापि छुट नहीं सकेगा । तू भी मेरीतरह बकरे की योनी में जन्म लेगा । हे ब्राह्मण ! उस श्राप के फलस्वरूप मृत्यु को प्राप्त होकर अब मैं बकरा हुआ हूँ । और मुझे इसलिए हँसी आरही है कि मेरी तरह वही भूल करके तुम भी मरने के बाद बकरा बनकर मेरे द्वारा काटा जायगा । याद रख ! हँसते-हँसते किये दुशकर्मों का फल एक दिन रोते-रोते अवश्व भोगना पड़ेगा । बकरे के द्वारा ब्राह्मण ने उसके पूर्व जन्म के कर्म का इस प्रकार फल भोगने का वृतान्त सुनकर अपने को भविष्य में बकरा जन्म से मुक्त करने के लिए उस बलि के बकरे को बिना काटे जंगल में छोड़ दिया और उसी दिन से आजीवन दयावान रहने की प्रतिज्ञा कर ली

''दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान''
''तुलसी दया न छोड़िए , जब लग घट में प्राण ।''

प्रश्न-१५२ : अखण्डानन्द प्राप्त करने के क्य उपाय है ?

- देह से मैं भाव एवं सम्बन्धियों से मेरा भाव मन से मिटादें ।
- यदि आप अपमान को वशीभूत करना चाहते हैं तो अपना सम्मान चाहने के भाव को त्याग दे ।
- यदि आप दुःखों पर शासन करना चाहते हैं, दुःख को वशीभूत कर दास बनाना चाहते हैं तो सुख को पाने की आशा को त्याग देना होगा ।

- ❖ यदि आप संयोग में प्रसन्न होते हैं तो फिर दुःख वियोग को भी सहन करना ही होगा। अतः वियोग के दुःख से बचना चाहते हैं तो संयोग के भ्रान्ति रूप सुख को त्याग दें।
- ❖ यदि आप शोक पर शासन करना चाहते हैं तो हर्ष भाव को कदापि स्वीकार न करें।
- ❖ यदि आप मृत्यु भय से मुक्त होना चाहते हैं तो सदा आत्म चिन्तन करें ताकि आप जीवित ही अमृत पद प्राप्त कर सकें।
- ❖ यदि संसार के दुःखों से बचना चाहते हैं तो विवेक को प्राप्त करें एवं साक्षी भाव में ही स्थित रहें।
- ❖ जगत् वालों की अप्रसन्नता से बचना चाहते हैं तो प्रभु, गुरु में स्नेह करें एवं उनके बताये अमृत वचनों को धारण करें।

प्रश्न-१५३ : परमात्मा को कैसे देखें ?

उत्तर : दृश्य को छोड़कर नेत्र में, नेत्र को छोड़कर कण्ठ में, कण्ठ को छोड़कर हृदयमें, हृदय को छोड़कर साक्षी में ठहर जाना है, स्थित हो जाना है साक्षी ही ब्रह्म है।

बाहर के पदार्थ नेत्र से दिखते हैं, नेत्र मन के द्वारा जाना जाता है, मन को बुद्धि जानती है और बुद्धि को मैं साक्षी आत्मा जानता है। इसी तरह परमात्मा को देखा जाता है। इसके अतिरिक्त परमात्मा को देखने का कोई अन्य उपाय नहीं है।

ब्रह्मको 'इदम्' रूप से, यह रूप से अनुभव करना यह भक्तिमार्ग

है एवं मैं रूप से अनुभव करना यह ज्ञान मार्ग है ।

प्रश्न-१५४ : परमात्मा की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

उत्तर : परमात्मा की प्राप्ति हेतु व्यावहारिक दृष्टि से कुछ करना नहीं है । कर्म करने की आवश्यकता वहाँ होती है जहाँ प्राप्तव्य पदार्थ हमसे दूर एवं परिच्छिन्न हो । किन्तु परमात्मा तो अखण्ड होने से हमारा स्वरूप है । परमात्मा को दुर्लभ मत मानो । उसे अत्यन्त सुलभ जानो । वह सर्वदा मैं रूप में प्राप्त ही है ।

प्रथम परमात्मा के सम्बन्ध में यह निष्ठा दृढ़ करलो कि जहाँ हमें जाना है वहां हम प्रथम से खड़े हैं और जिसे हम साधन द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं वह मैं स्वयं ही हूँ ।

अत: परमात्मा की प्राप्ति को दुर्लभ मत मानो । यदि दुर्लभ मानोगे तो स्वयं अपने लक्ष्य को अपने से दूर कर दोगे । जब परमात्मा यह सब रूप में है **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** तो उसकी प्राप्ति में फिर देरी नहीं कि दूरी भी नहीं रहेगी ।

द्वितीय अपने में दोष ही मत खोजते रहो कि मैं दीन, पतित, मूर्ख, पापी हूँ । मैं कैसे भगवान को प्राप्त कर सकता हूँ ? प्राप्त परमात्मा के अनुभव करने में यह दूसरी बाधा है । अत: अपनी तुच्छता की ओर न देख परमात्मा की ओर देखो कि मेरी दीनता, पतितावस्था होने पर भी परमात्मा मेरे से दूर नहीं है ।

परमात्मा बिन हेतु स्नेही है ।

तृतीय मैं परमात्मा को साधन द्वारा प्राप्त करलूंगा । यह धारणा अपने अहंकार को पुष्ट करती है । परमात्मा साधन साध्य नहीं है कि मैं इतने लाख जप करके, इतनी तपस्या करके, गृहत्याग करके, ध्यान समाधि

करके प्राप्त करलुंगा । परमात्मा कृपा साध्य है । परमात्मा को साधन साध्य मानना यह हमारा तीसरा विघ्न है ।

चतुर्थ यह भी चिन्ता छोड़ दो कि हमारी संसार में आसक्ति है, हमें परमात्मा कैसे मिलेगा ? देखो ! आपका राग संसार में है ही कहाँ ? प्रतिरात्रि गहरी नींद में सब का परित्याग करके अपने स्वरूप में आनन्द में चले जाते हो । आपका राग तो शरीर में भी नहीं है । आपका राग तो अपनी आत्मा में है, अपने आनन्द में है, आनन्द ही परमात्मा है **'रसो वै सः'** । उसे खोजने जाओगे तो भटक जाओगे । हम जहाँ हैं वहीं परमात्मा है, वह हम है **'सोऽहम्'**

ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति

- गीता १८/६१

प्रश्न-१५५: सद्गुरु की आवश्यकता क्यों मानी जाती है ?

उत्तर : वस्तु यदि दूर हो तो जाकर लाना पड़ता है किन्तु वस्तु पास ही हो और नजर न आती हो तब किसी पहचान कराने वाले की जरूरत होती है । जैसे मृग की नाभि में कस्तूरी रहने पर भी वह उसे अपने में न पहचान कर दूर-दूर खोजता फिरता है, तब उसे किसी पहचान कराने वाले मनुष्य या पशुकी आवश्यकता पड़ती है जो उसे प्राप्ति का होंश करासके । इसी तरह परमात्मा हमारा स्वरूप है, नित्य प्राप्त एवं स्वयं है, फिरभी स्वरूप बोध न होने से उसे बाहर खोजते रहते हैं । जब कोई सद्गुरु पहचान कराने वाला मिलजाता है तब जीव कृत-कृत्य हो जाता है ।

सद्गुरु किसी नूतन वस्तु की प्राप्ति नहीं कराता है बल्कि नित्य प्राप्त की ही प्राप्ति कराता है । नित्य मुक्त को ही मुक्ति का होंस कराता है ।

प्रश्न-१५६ : गहरी निद्रा में मैं सुख से सोया, मुझे कुछ भी पता नहीं

चला यह किसका अनुभव है ?

उत्तर : द्रष्टा कभी सोता नहीं । 'मैं सो रहा हूँ' यह अनुभव सोने वाले को कभी नहीं हो सकता । यदि अनुभव हो रहा है तो वह अनुभव करने वाला सोया नहीं बल्कि जाग रहा है । मैं सोया यह बुद्धि है एवं सुख की अनुभूति आत्मा की है । किन्तु बुद्धि के सोने के धर्म को आत्मा पर आरोपित कर कह देते हैं और आत्मा के सुख को बुद्धि पर आरोपित कर देते हैं । मुझे कुछ पता न चला यह अज्ञान जो बुद्धि का था वह अपने में मान कर कह देते हैं कि मुझे कुछ पता न चला । अत: अज्ञान एवं निद्रा बुद्धि का धर्म है एवं आनन्द व सुख का अनुभव आत्मा का है ।

जो सोया था उसे ज्ञान नहीं हुआ वह बुद्धि है । आत्मा को ज्ञान हुआ वह सोई नहीं । अतः बुद्धि और अनुभव को अलग कर दें । बुद्धि सो गई थी उसे अपने सो जाने का भान नहीं था और अनुभव करने वाला मैं आत्मा सोया नहीं था ।

प्रश्न-१५७ : पराक् एवं प्रत्यक में क्या भेद है ?

उत्तर : नेत्रके द्वारा जो बाहर की वस्तु दिखाई पड़ती है उसे पराक् कहते हैं और भीतर बैठा जो नेत्र को देख रहा है उसे प्रत्यक आत्मा कहते हैं । वह तुम हो उसे ढूंढने, खोजने कहीं बाहर जाने की जरूरत नहीं है । प्रवृत्ति के लिये बाहर जाना पड़ता है, परमात्मा के लिये जहां का तहां छोड़ भीतर हो जाना है । आत्म स्वरूप की उपलब्धि की प्रक्रिया निवृत्ति है, प्रवृत्ति नहीं । अपना आत्मा सदा अपरोक्ष है, वह दर्शन की वस्तु नहीं जो पृथक् दृश्य रूप से दिखाई पड़े । जो दृश्य रूप में होगा वह अजर अमर नहीं होगा । अन्य रूप से जिसके भी दर्शन होंगे वह जड़ एवं अनित्य के ही दर्शन है । परमात्मा तो आत्मा है । उसके दर्शन 'स्व' के रूप में ही होते हैं ।

प्रश्न-१५८ : वेदान्त का मुख्य प्रयोजन क्या है ?

उत्तर : वेदान्त का अभिप्राय यह है कि केवल तुम्हें अपने आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानने मात्र से तुम्हारे सम्पूर्ण नित्यनिवृत्त दुःख की निवृत्ति नित्य प्राप्त और परामानन्द की प्राप्ति का बोध करा दिया जावे । कुछ करना नहीं, कुछ पाना नहीं, कुछ त्यागना नहीं, कुछ नया जानना नहीं । जो है बस उसी को जानो । जो वस्तु अपने घर में पड़ी है वह बाहर खोजने से नहीं मिल सकेगी । उसके लिये इदम् से नेत्र हटा कर अहं में लाना होगा ।

प्रश्न-१५९ : नतमस्तक करने का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर : नत मस्तक का अभिप्राय है-उसकी सत्ता से हमारी सत्ता पृथक् नहीं है, उसके ज्ञान से हमारा ज्ञान पृथक् नहीं है, उसके आनन्द से हमारा आनन्द पृथक् नहीं है । उससे मैं भिन्न नहीं हूँ । उसकी सत्ता के सामने, उसके स्वरूप के सामने हम अपने को, हम अपने अहंकार को, हम अपने व्यक्तित्व को, हम अपने भेद को शिथिल कर रहे हैं, मिटा रहे हैं । यहि नमस्कार का अर्थ होता है । जैसे गुरु के सम्मुख फल, वस्त्र, मिष्ठान्न, स्वर्ण समर्पित कर देने पर फिर समर्पण कराने वाले का उस वस्तु पर अधिकार नहीं रहता है । इसी प्रकार सद्गुरु या परमात्मा के सम्मुख अपने को न्योछावर कर देने पर इस शरीर पर भी उनका ही अधिकार हो जाता है फिर हमारा स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता । जैसे नदी सागर में जाकर अपनी स्वतन्त्र अस्तित्व को मिटा देती है ।

प्रश्न-१६० : जगत् स्वप्न के समान क्यों कहा जाता है?

उत्तर : स्वप्न में हम किसी से हार जाते हैं, अपमानित किये जाते हैं, बलात्कार हो जाता है तो वह हमारी ही बुद्धि वृत्ति है वहाँ हमारी बुद्धि के

अलावा अन्य कोई नहीं है । इसी प्रकार हम जाग्रत में समझते हैं कि अमुक ने मेरी चोरी की, अमुक ने मेरा अपमान कर दिया, अमुकने मेरे साथ बलात्कार किया, हमारी सम्पत्ति किसी अन्य ने छीनली किन्तु यह भेद भ्रम हमारे मन का ही है । हम अपने से ही हारते हैं । हमारी सम्पति एक शरीर से दूसरे शरीर के पास चली गई, हमारा धन एक हाथ से दूसरे हाथ में चलागया । इस प्रकार अपने को एक देह में न समझकर विश्वात्मा समझना । एक शरीर में बैठकर, पाप-पुण्य, लाभ-हानि, हार-जीत होती है । मैं ही सब हूँ या मैं ही हूँ अन्य कोई नहीं है तब न पाप-पुण्य है न लाभ हानी है । यह दोनों सिद्धान्त शान्ति प्राप्त करने के या शान्ति बनाये रखने के साधन है ।

प्रश्न-१६१: वेद में कर्म, उपासना, योग तथा ज्ञान साधन किसके लिये है ?

उत्तर : मनुष्य के जीवन का प्रतीक श्वाँस हैं इसी प्रकार ईश्वर के जीवन का प्रतीक वेद है । ईश्वर दयालु है अत: उसका वेद भी समस्त प्राणियों के लिये हितकारी है । जो जिसका अधिकारी है उसके लिये वैसे साधन का विधान करता है ।

देहाभिमानी के लिये कर्म का उपदेश करता है जिससे उसका देह अभिमान दूर हो सके । सूक्ष्म शरीर अभिमानी के लिये उपासना का उपदेश करता है जिससे वह सूक्ष्म शरीर से ऊपर उठ सके, वृत्ति अभिमानी के लिये योग का उपदेश करता है, जिससे वह वृत्ति से ऊपर उठ सके, तथा ज्ञान से रहित अविद्या में आबद्ध उन कारण शरीर अभिमानी को मुक्त करने के लिये ज्ञान का उपदेश करता है । वेदान्त का अर्थ सीधे-सीधे ज्ञान काण्ड समझलो।

वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है । ज्ञान ब्रह्म है अर्थात् ज्ञान नित्य है; ईश्वर ने या किसी अन्य ने ज्ञान को उत्पन्न नहीं किया । ज्ञान बनाया गया यदि ऐसा कहा भी जावे तो भी बनाने के पूर्व ज्ञान अवश्य मानना पड़ेगा । अन्यथा ज्ञान को कोई कैसे बना सकेगा ? वेद अर्थात् ज्ञान अपौरूषेय है । उसे किसी ने बनाया नहीं । यदि कहो कि ईश्वर ने वेद बनाया तो ईश्वर में पहले कभी अज्ञान था ऐसा मानना पड़ेगा ।

प्रश्न १६२: क्या वेदान्त ज्ञान के लिये जाति भेद या लि' भेद की अपेक्षा होती है ?

उत्तर : वेद तथा उपनिषदों के संस्कृत ग्रन्थों के स्वाध्याय हेतु तो जाति, कर्म, विधि निषेध है । किन्तु वेदान्त ज्ञान के लिये लिंग, जाति, वर्ण, भेद की अपेक्षा नहीं है । ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान में साधन चतुष्टय ही अधिकारी माना जाता है । जिन्हें संस्कृत नहीं मालुम है वे मुमुक्षु भी महाभारत, पुराण, उपनिषद, गीता, रामायण आदि भाषा ग्रन्थ द्वारा भी ब्रह्म ज्ञान कर सकते है ।

कर्म शरीर से होता है अत: यज्ञादि कर्म में शरीर की जाति, लि' आदि अधिकार देखा जाता है किन्तु ज्ञान तो बुद्धि से होगा । वेदान्त में देह, जाति, वर्ण, संस्कृत ज्ञान अधिकारी की बात नहीं है । बौद्धिक ही अधिकारी माना गया है ।

कर्म, उपासना, योगादि साधन किये बिना ही केवल द्रष्टा, साक्षी आत्म रूप में बुद्धि वृत्ति को दृढ़ करने मात्र से जीव सारे पाप-पुण्य बन्धन से मुक्त हो सकते हैं, जो पूर्व में पाप हो चुके उनकी भी चिन्ता छोड़ दो । स्वप्न में कितने अपराध किये उसका हिसाब लगाने की जरुरत नहीं अब तुम जाग चुके हो । स्वप्न में छह माह की सजा किसी अपराध में मिली

उसमें से चार माह भोग चुके थे और नींद खुलगई तो दो माह सजा भोगने की चिन्ता छोड़ दो ।

प्रश्न-१६३ : साधन चतुष्टय का क्या समय है ?

उत्तर : जिस समय तुम वेदान्त विचार करने बैठो, उस समय तुममें षट् सम्पत्ति होनी चाहिये । क्योंकि श्रवण के समय शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षा, उपरामता, समाधानता नहीं होगी तो श्रवण से लाभ नहीं होगा । श्रवण के पहले कितने घंटे, दिन, महिने से साधन चतुष्टय होना है । ऐसा कोई नीयम नहीं है ।

आप अभी यहाँ पर घर, नौकरी, व्यापार, खेल कुद,मनोरजंन के साधन छोड़ इतनी गरमी, सर्दी, वर्षा में आये हो तो यह संसार से वैराग्य है , परमात्मा में रुचि श्रद्धा, प्रीति, भक्ति है, कथा में मन लगता है तो शम भी है । बिना गद्धे तकिये, कुर्सी पंखे, कूलर बातानुकूलता के जमीन पर बैठे हो । नीचे कंकड़ भी चभ रहे हैं, गर्मी भी लग रही है, मच्छड़ भी काट रहे हैं, यह आप में तितिक्षा भी है । नींद आने पर खड़े हो जाते हैं, खड़े कर दिये जाते हो तो यह श्रद्धा भी है । भोगों में ग्लानी भी है यह उपरामता भी है एवं मन तत्त्व निर्णय में ही लगा रहता है यह समाधानता भी आपमें आगई बस आज इतने समय ही साधन चतुष्टय पर्याप्त है । कल फिर यहाँ आकर बैठते समयं यह सामग्री होना चाहिये ।

प्रश्न-१६४ : क्या समाधि द्वारा बिना तत्त्वज्ञान किये मोक्ष प्राप्ति हो सकती है ?

उत्तर : समाधि में तत्त्वज्ञान हो नहीं सकता एवं बिना तत्त्वज्ञान के अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति के मुक्ति की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ऐसा वेद का मत है । **'ऋते: ज्ञानान्न मुक्ति' 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'** क्योंकि समाधि में तो

वृत्ति का निरोध किया जाता है '**योग: चित्तवृत्ति निरोध:**' और अविद्या की निवृत्ति के लिये ब्रह्माकार वृत्ति परमावश्यक है । मैं ब्रह्म हूँ यह शुद्ध ज्ञान समाधि के द्वारा नहीं हो सकता । अत: समाधि अन्त:करण की शुद्धि कराने में एवं एकाग्र वृत्ति बनाने में तो सहयोगी हो सकती है किन्तु 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान समाधि में नहीं हो सकता । अत: समाधि अज्ञान को निवृत्त नहीं कर सकती । समाधि अन्त:करण में लगती है । जब अधिष्ठान आत्मा का ज्ञान हो जाता है तब अन्त:करण दृश्य एवं मिथ्या हो जाता है । अत: तुम बिना समाधि के भी आत्मज्ञान पाने के सदा अधिकारी हो ऐसा विश्वास रखकर आत्माज्ञान पाने के लिये किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण ग्रहण करो । कार्य को कारण में लीन करदेना ही ज्ञानियों की वास्तविक समाधि है ।

प्रश्न-१६५: अन्त:करण की शुद्धि का क्या साधन है ?

उत्तर: 'मैं ब्रह्म हूँ' चिन्तन ही अन्त:करण शुद्धि का एकमात्र साधन है । जितने समय सोऽहम् भाव मन में रहता है तब तक तुम्हारा अन्त:करण पूर्ण शुद्ध है । अन्त:करण अशुद्ध तब होता है जब तुम देह को मैं मान लेते हो । बहुत दिन अभ्यास से चित्त शुद्ध होगा ऐसा भ्रम छोड़ दो । चिन्तन के अलावा अन्त:करण कोई अलग इन्द्रिय नहीं है जिसे कुछ काल के अभ्यास द्वारा शुद्ध किया जाये ।

अस्तु ! तुम अपने घर में प्रवेश करने के लिये या अपनी मां की गोद में जाने के लिये सदा अधिकारी हो । अधिकार तो दूसरे के घर में प्रवेश करने के लिये आवश्यक है कि कब जावें, कैसे जावें, क्या लेकर जावें, किस साधन से जावें, किन्तु अपने घर में खाली हाथ, आधि रात, गन्दे वस्त्र, भूखे, प्यासे बिना जूते चप्पल खोले या नग्न भी प्रवेश कर सकते हैं ।

नित्य प्राप्त आत्मा को हम पहचान नहीं रहे हैं तब भी वह न दूर है न परोक्ष है । सोते, जागते, उठते, बैठते सब समय साथ है, वह हम ही हैं । बस पहचान कराने वाले सद्गुरु की जरूरत है ।

प्रश्न-१६६ : परमात्मा प्राप्ति में कितना समय लगता है ?

उत्तर : अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति हेतु ही समय एवं साधन का माप दंड़ होता है । जैसे राजा को मनुष्य होने में राजापने का अहंकार ही तोड़ने की जरूरत होती है, मनुष्य तो वह पहले से ही है । इसी प्रकार जीव को ब्रह्म होने के लिये केवल अपने जीव पने के अहंकार को छोड़ने की ही जरूरत है क्योंकि जीव तो पूर्व से ब्रह्म ही है । क्योंकि वेद कहता है यहाँ एक ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी अन्य नहीं है । **'नेह नानास्ति किंचिन्ः'**

एक देह का अभिमानी बन गया तो जीव है एवं एक देह का अहंकार छोड़कर समष्टि देहों के साथ एकत्व बोध हो गया तो वह विश्वात्मा है । यह देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि जो एक देह में है इनके साथ तादात्म्य करने से यह जीव होता है एवं इस देह संघात् से अहंता छोड़ देने से यह परमात्मा ही है ।

प्रश्न-१६७ : अप्रमेय कौन है ?

उत्तर: अहम्(मैं) अप्रमेय है । जो प्रमाण के पीछे रहकर प्रमाण व प्रमेय को प्रकाशित करता है वह अप्रमेय है । श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण यह पांचों ज्ञान इन्द्रिय प्रमाण है एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध यह इन पाचों ज्ञान इन्द्रिय के प्रमेय है । जो प्रमाण के सामने है वह प्रमेय है किन्तु जो प्रमाण एवं प्रमेय के पीछे है, वह अप्रमेय मैं हूँ ।

एक देह के अभिमान से ही मैं एवं मैं की अपेक्षा से तू है यदि देह अभिमान नहीं तो न मैं है न तू है तब केवल मैं, तू का प्रकाशक एक ज्ञान

मात्र है । यही ब्रह्म शेष रह जाता है ।

प्रश्न-१६८ : ध्यान में दिखने वाले भगवान क्या हैं ?

उत्तर: जिसका ध्यान करोगे, बारम्बार ध्येयाकार वृत्ति बनाओगे, वह मन चाहा भगवान की काल्पनिक मूर्ति का दर्शन, उपासना का फल है । वह सम्मुख आकर बात भी करेगा, खाएगा भी, अशिर्वाद भी देगा पर यह सब सगुण उपासना में होता है; यह सब भक्त की भावना का खेल है; वास्तविकता नहीं है । मन, बुद्धि के चिन्तन द्वारा जो प्रकट होता है एवं सुषुप्ति में मन, बुद्धि के लीन होने से उससे उत्पन्न भगवान भी लीन हो जाते हैं । वह क्षणिक दिखने वाला भगवान सत्य नहीं हैं ।

जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी ।

प्रश्न-१६९ : क्या ज्ञान से मोक्ष उत्पन्न होता है ?

उत्तर : आत्मा सदा मुक्त है । आत्मा में अज्ञान से बन्धन मान लिया है, उस बन्धन भ्रम की ही निवृत्ति करना है । मोक्ष को उत्पन्न करने के लिये साधन की आवश्यकता नहीं है । मोक्ष उत्पाद्य नहीं है । अपना स्वरूप है, जो नित्य प्राप्त है । जो वस्तु उत्पाद्य की जाती है वह तो नष्ट हो जाती है । आत्मा का मोक्ष नित्य स्वभाव है अग्नि उष्णवत् । अत: ज्ञान द्वारा मोक्ष उत्पन्न नहीं होता बल्कि ज्ञान द्वारा बन्धन भ्रम की निवृत्ति होती है । अरे भैया ! अपने में बन्ध की कल्पना कर क्यों दु:खी हो रहे हो । यही अज्ञान है एवं इस अज्ञान की निवृत्ति हेतु ही ज्ञान साधन है, मोक्ष प्राप्ति हेतु नहीं ।

प्रश्न- १७०: आत्मा का क्या अर्थ है ?

उत्तर : आत्मा का अर्थ होता है 'मैं' । इस प्रकार जहाँ भी तुम 'मैं' शब्द का प्रयोग करो वहाँ उसका अर्थ आत्मा ही समझना चाहिये । जब वारम्बार आत्मा का अर्थ मैं रूप से अपने बुद्धि में बिठाने लगोगे तो धीरे-

धीरे आत्म शब्द का अर्थ मैं रूप से ध्यान में आने लगेगा ।

प्रश्न- १७१: आत्मा का अर्थ मैं रूप में कैसे समझा जावे ?

उत्तर : आत्मा का अर्थ मैं रूप में प्रतिदिन व्यवहार काल में भी प्रायः हम सभी करते देखे जाते हैं । उसके कुछ उदाहरण शब्दार्थ रूप में यहाँ दिये जाते हैं ।

जैसे : आत्मा अर्थात् मैं : स्वयं, जीव, चेतन, निज, अपना, स्वकीय ।

आत्मज अर्थात् मेरा लड़का,
आत्मजा अर्थात् मेरी लड़की,
आत्मवत् अर्थात् अपनी तरह,
आत्म रक्षा अर्थात् अपनी रक्षा,
आत्म कथा अर्थात् अपना जीवन वृत्तान्त,
आत्मोन्नोती अर्थात् अपना उन्नती,
आत्म हत्या अर्थात् अपनी हत्या ।
आत्म समर्पण अर्थात् अत्म निवेदन, अपना बलिदान ।
आत्मोद्धार अर्थात् अपना कल्याण, आत्मा का उद्धार
आत्म स्मृति अर्थात् अपने होने का होंस, अपने सच्चे स्वरूप का स्मृति
आत्म विस्मृति अर्थात् अपने आप को भूल जाना, अपना ध्यान न रखना
आत्म रक्षक अर्थात् अपनी रक्षा करना, आत्म हित अर्थात् अपना भला
आत्मरति अर्थात् अपनेआपका आनन्द, आत्मानन्द
आत्मवलम्बी अर्थात् अपने सहारे सब काम करने वाला
आत्मीयता अर्थात अपनापन

आत्मबन्धु अर्थात् अपने रिश्तेदार
आत्मगत अर्थात् अपनेआप, स्वगत
आत्मबश अर्थात् जितेन्द्रिय
आत्मघात अर्थात् अपनी हत्या करना, आत्मघाति
आत्मज्ञान अर्थात् अपने आपको पहचान
आत्म त्याग अर्थात् दूसरों के लिये अपना त्याग
आत्मवंचक अर्थात् अपने आपको धोखा देना
आत्म गौरव अर्थात् अपने मान का विशेष ध्यान
आत्म श्लघा अर्थात् अपने मुंह अपनी प्रशंसा
आत्म प्रशंसा अर्थात् अपनी प्रशंसा स्वयं करना
आत्मोपम अर्थात् अपने समान
आत्महिंसा अर्थात् अपनी हत्या
आत्मभिमानी अर्थात् अपने प्रतिष्ठा का ध्यान रखने वाला
आत्मा राम अर्थात् सबको अपने समान देखने वाला योगी
आत्मोत्कर्ष अर्थात् आत्मोन्नति, अपनी उन्नति
आत्मोत्सर्ग अर्थात् दूसरों के हित के लिये अपना सुख का बलिदान
आत्मोद्भव अर्थात् अपना बेटा
आत्मोद्भवा अर्थात् अपनी बेटी
आत्म संयम अर्थात् अपनी चित्तवृत्ति को वश करना
आत्मसिद्ध अर्थात् अपने आप से बना हुआ
आत्मानंद अर्थात् अपने आप में लीन रहना
आत्माधीन अर्थात् अपनाआप, स्वाधीन, स्वतन्त्र,
आत्मकृत अर्थात् अपने हाथ में किया हुआ
आत्मग्राही अर्थात् लालची, स्वार्थी,

आत्मज्ञ अर्थात् अपने आप को भलीभांति जानने वाला
आत्मद्रोही अर्थात् अपनी निन्दा करने वाला
आत्मविक्रय अर्थात् किसी के हाथ आपने को बेच देना, नौकर हो जाना, गुलाम बन जाना,

प्रश्न-१७२: ज्ञान हो जाने से जगत् रहता है या नहीं ?

उत्तर: ज्ञान अज्ञान का विरोधी है, भ्रम का विरोधी है, भान का विरोधी नहीं है । अज्ञान में जैसे जगत् प्रतीत हो रहा था ज्ञानोपरान्त भी जगत् व्यवहार उसी प्रकार प्रतीत होगा एवं उपयोग में भी आता रहेगा । जब तक नेत्र है यह जगत् प्रपंच तो प्रतीत होता ही रहेगा किन्तु प्रपंच के प्रति मिथ्या का बोध भी बना रहेगा । यह संसार के नगर, महानगर, फेक्ट्री, ग्राम,व्यक्ति, व्यवहार, परिवार, घर सब त्यों बना रहेगा ।

प्रश्न-१७३ : ज्ञान हो जाने पर जो कर्म होते रहते हैं उनके भोग हेतु क्या ज्ञानी को जन्म लेना होगा ?

उत्तर: -ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी के लिये वह समस्त कर्म निर्बीज हो जाते हैं । जैसे अग्नि में भुने हुए गेहूँ, चना, धानादि का पुनः अंकुरित होना संम्भव नहीं रहता किन्तु कोई कर्म बिना फल दिये शान्त नहीं होता है । तब यह कर्म भोग कैसे समाप्त हो सकेगा ? तो कहते हैं ज्ञानी के द्वारा हुए शुभ कर्मों का फल उसके प्रिय तथा अशुभ कर्म का फल ज्ञानी की निन्दा करने वाले, शत्रुता रखने वाले भोगते हैं ।

- कौषीतकि उप.अध्याय १/४

प्रश्न-१७४ : आत्मा प्रत्यक्ष है या परोक्ष है ?

उत्तर: आत्मा न प्रत्यक्ष है और न परोक्ष है । प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जो

इन्द्रिय के सम्मुख दृश्य रूप हो और परोक्ष उसे कहते हैं जो पदार्थ इन्द्रियों से दूर अप्रत्यक्ष है । आत्मा दृश्य अदृश्य से पृथक् अनुभव, ज्ञान एवं साक्षी रूप है ।

प्रश्न-१७५ : जगत् ब्रह्म से भिन्न जड़ पदार्थ मानने में क्या आपत्ति है ?

उत्तर: किसी कार्य की उत्पत्ति हेतु उस वस्तु का ज्ञान, उस वस्तु के बनाने की इच्छा एवं उस वस्तु को बनाने हेतु पुरुषार्थ इन तीनों की आवश्यकता है । यह ज्ञान, इच्छा एवं पुरुषार्थ जड़ वस्तु में नहीं है इसलिए सृष्टि का निर्माण बिना चेतन पुरुष के कदापि सम्भव नहीं है । जैसे मिट्टी बिना कुम्हार के घट निर्माण नहीं कर सकता । उसके लिये तो कुम्हार का होना, घट बनाने का ज्ञान होना, घट बनाने की इच्छा होना तथा घट निर्माण करने का पुरुषार्थ होना अत्यन्त जरूरी है ।

यदि जगत् को ब्रह्म से भिन्न जड़ मानेंगे तो ब्रह्म की अद्वितीयता एवं अखण्डता सिद्ध नहीं हो सकेगी । 'इदम्' और 'अहम्' दोनों ब्रह्म है । 'अहम्' से ही 'इदम्' का, 'मैं' से ही 'यह' वस्तु का भान होता है । मैं के बिना इदम् (यह) की प्रतीति नहीं होती किन्तु 'यह' के बिना मैं रहता है । आत्मा के रूप में ब्रह्म को जानना ही ठीक सिद्धान्त माना जाता है । आत्मा नित्य होने से आत्मा के अभाव का अनुभव कभी नहीं हो सकता । इदम् के रूप में ब्रह्म का साक्षात्कार मानेंगे तो इदम् के अभाव में ब्रह्म का भी अभाव माना जावेगा यह बात वेद को अमान्य है ।

जब जगत् परमात्मा का स्वरूप है, तब जगत् में ही स्थित देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्त:करणादि भी परमात्मा के स्वरूप है तो जीव क्यों न ब्रह्म होगा ? 'जीवो ब्रह्मैव केवलम्' ।

प्रश्न-१७६ : प्रवृति तथा निवृत्ति का तात्पर्य समझावे ?

उत्तर: बाहर की ओर आना प्रवृत्ति है एवं भीतर की ओर लौटना निवृत्ति है । अहम् को इदम् रूप में लाना प्रवृत्ति है एवं जहाँ विषय से इन्द्रियों में, इन्द्रियों से मन में, मन से बुद्धि में, बुद्धि से साक्षी में जाकर स्थित होना निवृत्ति है । जहाँ अपने से भिन्न कोई ईश्वर माना है वहाँ साधन प्रवृत्ति द्वारा ईश्वर प्राप्ति होगी किन्तु जहाँ प्रत्यगात्मा ही परमात्मा है वहाँ तो प्रवृत्ति के 'उल्टा' चलना होगा इसी को विचार भी कहते हैं । वि अर्थात् 'उल्टा' एवं चार अर्थात् 'चलना' उल्टा 'चलना' या विपश्यना, उल्टा देखना इसी को सन्तों की भाषा में कहते है **देख ! देख ! देखने वाले को देख । जान ! जान ! जानने वाले को जान ।** और वह तू स्वयं है ।

प्रश्न-१७७ : मैं कौन हूँ ?

उत्तर : यह साढ़े तीन हाथ या पांच छह फिट का देह तुम नहीं हो । अपने को इस चमड़े की जेल से बाहर करो । यह अस्थि, चर्म, मांस, मज्जा, रक्त, हाड़, केश, नख, दन्त, मल, मुत्र, कफ, लार, बात, पित्त का पुतला अपने को मत जानो । तुम न कामी हो न क्रोधी न पण्डित हो न मूर्ख, न धनवान हो न निर्धन हो । एक देह के अहंकार को छोड़ दो तो सम्पूर्ण विश्व तुम्हारा विराट् स्वरूप है । अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड जिसके एक एक रोम में छिपे हुए है ऐसी विश्वात्मा मैं हूँ, ऐसा तुम अपने लिये, निश्रय करो । यह आत्मा जिसे तुम 'मेरी आत्मा' कहा करते हो परोक्षरूप में जानते हो, वह तुम स्वयं ही हो । तुम नश्वर, दृश्य, विकारी देह नहीं हो ।

प्रश्न-१७८ : मन पंच अपंचिकृत भूतों से बना है इसे कैसे निश्चय करें ?

उत्तर : मन यदि किसी एक ही भूत से बना होता तो वह भूतों में से किसी

एक के ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध गुण को ग्रहण करता, किन्तु मन पाचों विषयों का ग्रहण पांचों ज्ञानेन्द्रिय द्वार से करता है । जबकि ज्ञानेन्द्रिय उसके अपने भूत के ही विषय को ग्रहण करती है, अन्य भूत के गुण को ग्रहण नहीं करती है । इससे यह बात प्रमाणित हो जाती है कि मन में पांचों भूतों की प्रधानता है ।

प्रश्न-१७९ : ज्ञान हो जाने पर भी अज्ञान काल की तरह व्यवहार में भेद बुद्धि क्यों रहती हैं ?

उत्तर : सब में एक परमात्मा है, अत: सबसे समान व्यवहार करो यह बात अविवेक से कही गई है । अद्वैत ज्ञान के आधार से व्यवहार करने की बात भावुकता है । अपने शरीर में ही पांचों इन्द्रियां अपना अपना ही कार्य करती है । कोई एक इन्द्रिय सबका या किसी अन्य का काम नहीं करती है । चश्मा आंख पर ही लगाया जायगा कान या नाक पर नहीं । टेलीफोन कान पर ही लगाया जायगा, आंख या नाक पर नहीं । माता, पत्नी, बहन, लड़की के साथ एक जैसा व्यवहार कैसे होगा ? तत्त्व अभेद रूप है । अत: व्यवहार तो सामाजिक मर्यादा के अनुसार भेद रूप ही होगा । निर्गुण में व्यवहार नहीं होता है ।

प्रश्न-१८०: एकत्व निश्चय कैसे किया जाता है ?

उत्तर : ये जितने भी भूत, प्राणी,पदार्थ है इन समस्त दिखायी पड़ने वाले नाम, रूपों में मैं एक ही हूँ और ये सबके सब प्राणी, पदार्थ मुझ में ही कल्पित हैं । सब मुझ में है और मैं सब में हूँ । ब्रह्म ही यह सम्पूर्ण विश्व है, आत्मा ही यह सर्व जगत् है '**ब्रह्मैवेदं विश्वं इदं वरिष्ठम्**' । अतः तत एवं त्वम् पदार्थ का एकत्व सिद्ध हो गया ।

उपनिषद् अत्मा व परमात्मा के प्रतिपादक नहीं है । उपनिषद

आत्मा व परमात्मा के एकत्व के प्रतिपादक है । एकत्व के ज्ञान बिना अविद्या की निवृत्ति सम्भव नहीं है ।

प्रश्न-१८१: एक के ज्ञान से सर्वका ज्ञान कैसे हो सकता है ?

उत्तर: शरीर के पांचों भूत सम्पूर्ण विश्व के भूतों से एक है । केवल हमने किसानों के खेत की तरह विभाग की रेखाएं खींचने की तरह एक एक शरीर को अलग अलग मान रहे हैं । यह मन से खींची गई रेखा कल्पित है । आत्मा अखण्ड होने से सबकी एकता है । जगत् के मूल में एक ही वस्तु न हो तो एक के ज्ञान से सबका ज्ञान कैसे हो सकेगा ? भूत दृष्टि से भी समस्त में एक ही भूत समाये हुए हैं ।

'यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति'

जिसके देखने, सुनने, समझने पर सब देखा, सुना, समझा हो जाता है, वह एक अपना आत्मा ही है । यदि वह और हम एक न हो तो वह हमसे एक नहीं हो सकेगा जो वस्तु जिसके बिना न रहे वह वस्तु उससे अभिन्न होती है । मिट्टी से बने आकार मिट्टी ही है । उपादान कारण का ज्ञान होने से उससे निर्मित आकार का बोध हो जाता है कि नाम, रूप पृथक् होने पर भी उन सबका आधार अधिष्ठान न एक मिट्टी ही है ।

प्रश्न-१८२: आत्मा की अखण्डता को कैसे जाने ?

उत्तर : यह आत्मा जाग्रत में है यह जो देख रहे हैं, सुन रहे हैं, छू रहे हैं, स्वाद ले रहे है यह देखने, सुनने वाला आत्मा ही है । स्वप्न में भी यह आत्मा स्वप्न का द्रष्टा रूप में रहता है तथा सुषुप्ति अवस्था में भी यह आत्मा आनन्द एवं अज्ञान का साक्षी रूप में रहता है । इन तीनों अवस्थाओं में एक आत्मा ही रहता है । ये तीनों अवस्थाएं न परस्पर अवस्थाओं में

रहती है न मुझ में है । मैं वस्तु-आत्मा ही तरीय एंव अखण्ड है । यदि मैं अखण्ड न होता तो तीनों अवस्था का ज्ञान मुझे नहीं हो पाता । लेकिन मैं जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्था को जानता रहता हूँ ।

प्रश्न-१८३ : जाग्रत, स्वप्ने सुषुप्ति अवस्था में आत्मा एंव जीव किस अभिमान से युक्त रहता है ?

उत्तर : जाग्रत अवस्था में तो विश्व, तैजस, प्राज्ञ तीनों कार्य करते हैं । स्वप्न अवस्था में यह जाग्रत अवस्था अभिमान विश्व संज्ञक जीव तैजस एवं प्राज्ञ में लय हो कर रहता है तथा सुषुप्ति अवस्था में यह जाग्रत स्वप्नाभिमानी विश्व, तैजस सहित प्राज्ञ में लय होकर रहता है एवं प्राज्ञ अकेला ही आनन्द अज्ञान का अनुभव करता है । इसलिये सुषुप्ति में जाग्रत तथा स्वप्न का किसी प्रकार का भी स्मरण नहीं रहता है ।

सुषुप्ति से जाग्रत अवस्था में लौटने पर आनन्द और अज्ञान का स्मरण रहता है तथा स्वप्न से जाग्रत अवस्था में आने से सुषुप्ति का आनन्द तथा स्वप्न का भी स्मरण रहता है । तब यह स्पष्ट है कि मैं स्वप्न और सुषुप्ति से पृथक् हूँ । जाग्रत को छोड़कर मैं स्वप्न और सुषुप्ति में चला जाता हूँ इसलिये मैं जाग्रत से भी पृथक् हूँ । तीनों अवस्थाओं की मुझे स्मृति होती है इसलिये मैं तीनों अवस्थाओं में एक हूँ ।

स्वप्नावस्था में जाग्रत की न तो स्मृति रहती है और न जाग्रत के पदार्थ स्वप्नावस्था में उपयोग में आते हैं इसी प्रकार स्वप्नावस्था में प्राप्त धन, सम्मान, अपमान, चोरी, हत्या, संयोग, वियोग का जाग्रत अवस्था हो जाने पर किसी प्रकार का सम्बन्ध एवं मन में हर्ष, शोक, लाभ-हानि, पुण्य-पाप भाव नहीं रहता है । दोनों अवस्था इस प्रकार असत हो जाती है । सुषुप्ति में जाग्रत, स्वप्न का पूर्णतया अभाव हो जाता है तथा ध्यान समाधि में जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति का भी अभाव हो जाता है । इस प्रकार

तीनों अवस्थाओं का बाध हो जाता है। तब केवल इन तीनों अवस्थाओं के भाव अभाव का ज्ञाता, प्रकाशक मैं तुरीय साक्षी आत्मा ही सत्य चित एवं आनन्द स्वरूप रह जाता हूँ। तीनों अवस्था में रहने से मैं सत हूँ, तीनों अवस्थाओं को जानता हूँ इसलिए चित हूँ तथा तीनों अवस्थाओं में प्रिय हूँ इसलिए आनन्द रूप हूँ।

प्रश्न-१८४: ज्ञानी अपने को बह्मज्ञानी क्यों नहीं मानते हैं ?

उत्तर : जो अपने को ब्रह्मज्ञानी मानते हैं और अहंकार से कहते हैं कि मैंने ब्रह्म को जान लिया है उन्हें अज्ञानी ही जानना चाहिये। वे अपने बुद्धि में अहंकार कर बैठे हैं

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम विजानताम ॥

केनोपनिषद २/३

ब्रह्म को मेरी बुद्धि ने जान लिया यह भाव जहाँ आया वहाँ तुम ब्रह्म से पृथक् हो गये वहाँ ब्रह्म ज्ञेय हो गया और आपकी बुद्धि ज्ञाता हो गई, ब्रह्म ज्ञेय होने से ज्ञाता से पृथक् एवं परिच्छिन्न हो गया। ज्ञाता पना तो अन्त:करण में है और वह सूक्ष्म शरीर का अंग है सूक्ष्म शरीर दृश्य एवं मिथ्या है। यह सिद्धान्त का जिन्हें बोध है उनके लिये अन्त:करण भी मिथ्या है। अन्त:करण में मैं-मेरापन रखना ही जीवत्व है। वस्तुत: ब्रह्म ज्ञान ब्रह्म स्वरूप का अन्त:करण से कोई। सम्बन्ध नही है। जो ज्ञानी यह कहते हैं कि हमने ब्रह्म को दृश्य वस्तु या व्यक्ति की तरह नहीं जाना, वही वास्तव में ब्रह्म को जानते हैं।

मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हूँ। प्राज्ञ, तैजस, विश्व, जागत, स्वप्न, सुषुप्ति और यह सब दृश्य प्रपंच मैं ही हूँ मुझमें ही सब स्वर्ग-नरक

कल्पित हुआ है सब में मैं ही हूँ मुझसे पृथक् किंचित् भी अन्य नहीं है यही यथार्थ ज्ञान है ।

ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ करता केवल अविद्या की निवृत्ति होती है । ब्रह्म, ज्ञान द्वारा प्राप्त होने वाली परिच्छिन्न वस्तु नहीं है । ब्रह्म ज्ञान तो स्वयं ज्ञान है, उसमें होना कुछ नहीं । वृत्ति ज्ञान भी सत्य ज्ञान नहीं है, वह अविद्या को निवृत्त करके स्वयं भी निवृत्त हो जाता है । जैसे पैर में चुभे कांटे को बड़े कांटे स निकाल कर बड़ा कांटा भी फेंक दिया जाता है । ज्ञान मात्र शेष रह जाता है ।

जो क्षेत्रज्ञ है वह परमात्मा है जो परमात्मा है वह क्षेत्रज्ञ है यह भावना नहीं करना है बलिक वह मैं हूँ ऐसा जानता है । अपने से पृथक् ब्रह्म को मैंने जाना ऐसा तो अज्ञानी ही कहता है । जानना, देखना, अनुभव में आना सदा दूसरे पदार्थ का ही होता है । परमात्मा तो ज्ञानी का स्वरूप है 'स्व' है अन्य नहीं है तब कौन किससे किसको देखे, कौन किसे किससे जाने, कौन किससे किसका अनुभव करे ? क्योंकि यहाँ एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है ?

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किंचिन्'

प्रश्न-१८५ : सुषुप्ति व समाधि में जीव का शुद्ध ब्रह्म से मिलन होने पर भी मुक्त क्यों नहीं होता ?

उत्तर : सुषुप्ति व समाधि में निर्बीज शुद्ध ब्रह्म का एकत्व नहीं होता है । यदि शुद्ध ब्रह्म के साथ वहाँ एक क्षण भी मिलन हो जाता तो फिर समाधि या सुषुप्ति से जीव का उत्थान नहीं होता । किन्तु सुषुप्ति से जीव का उत्थान होता है, समाधि से उत्थान होता है, हजारों कल्पों के बाद भी समाधि टूटती है । इससे सिद्ध होता है कि सुषुप्ति एवं समाधि में कोई ऐसा

संस्कार, कोई ऐसा बीज रहता है जिससे जीव को उठना ही पड़ता है ।

यदि ऐसा माने कि सुषुप्ति या समाधि में जीव निर्बीज ब्रह्म में लीन होकर पुन: निकल आते हैं, तब तो तत्त्वज्ञानी भी मुक्त नहीं हो सकेगा एंव उसे पुन: सृष्टि काल में जन्म लेना पड़ेगा ।

मानना यह पड़ेगा की सुषुप्ति, समाधि सबीज अवस्था है वहाँ अज्ञान अविद्या देहभाव कर्तृत्वभाव, जीवभाव, सूक्ष्म रूप से लीन होकर रहता है । जब जीव को जाग्रत काल में ऐसा बोध हो जाता है कि मैं शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म स्वरूप हूँ तब वह निर्बीजता होती है फिर जीव भाव में पुन: नहीं लौटना पड़ता है ।

प्रश्न-१८६: परमात्मा की खोज क्यों नहीं हो सकती ?

उत्तर : प्रथम तो यह विचारों कि परमात्मा को कौन खोजने निकलेगा जड़ अथवा चैतन्य ? फिर विचारें कि चैतन्य एक है या दो । एक चैतन्य है । तो जिसे खोजना है वह यदि चैतन्य है ऐसा मानते हैं तो खोजने वाला जड़ हो गया । फिर जड़ पदार्थ तो दूसरे को जान नहीं सकता वह तो स्वयं को भी नहीं जानता तो दूसरे को कैसे जानेगा, कैसे खोजगा ?

जो भी परमात्मा को ढूढ़ने निकलेगा वह मन के द्वारा ही ढूंढ़ेगा । अब मन को जो भी मिलेगा वह मनोवृत्ति के रूप में ही मिलेगा । श्रृति कहती है कि **'नेदं यदिदमुपासते** इदम् के रूप में, यह रूप में, दृश्य रूप में, परमात्मा को देखने की इच्छा मत करो

न तु मां शक्यसे द्रष्टमनेनैव स्वचक्षुषा । गीता ११/८

इन प्राकृत नेत्रों द्वारा वह परमात्मा कभी भी दृश्य रूप में देखा जाना सम्भव नहीं है । नेत्र अन्तर्गत जो द्रष्टा पुरुष है यह परमात्मा है । मनोराज्य को मत देखो बल्कि जिससे मनोराज्य होता है उस सत्ता को

देखो, वही ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप है । वाणी और मन के चंचल एवं शान्त होने को जो जान रहा है वह परमात्मा है, वही मैं हूँ, इस रूप में परमात्मा का अनुभव करो । जो सबको जानने वाला है सबके हृदय में विराजमान है वह तुम्हारे भीतर भी हैं तुम उसे परमात्मा जानो । विज्ञाता रूप में परमात्मा को पहचानो । उस विज्ञाता से पृथक् उसे जानने वाला अन्य कोई विज्ञाता नहीं है ।

तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।

कठोप २/२/१५

विज्ञातारमरे केन विजानाति येनेदं सर्व विजानाति

द्रष्टेः द्रष्टारम न पश्येत्

दृष्टि के द्रष्टा आत्मा को यह द्रष्टि कभी नहीं देख सकती ।

दृष्टी के द्रष्टा रूप में परमात्मा को ढूंढो तो परमात्मा तुम्हारी आत्मा रूप में ही मिल जाएगा, क्योंकि उस एक परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई तुम्हारे भीतर द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता नहीं है ।

नहि द्रष्टुर्विपरीलोपो विद्यते अविनाशित्वात

हमारी ज्ञान दृष्टि का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि मैं अविनाशी हूँ इसलिए मेरी ज्ञान दृष्टि भी अविनाशी अर्थात् नित्य अखण्ड एक रस है ।

मैं इस वस्तु को जानता हूँ और मैं इसे नहीं जानता हूँ यह जानना व न जानना बुद्धि में है और मैं ज्ञात-अज्ञात दोनों का प्रकाशक नित्य ज्ञान स्वरूप हूँ ।

प्रश्न-१८७: मेरी बुद्धि सब समय ब्रह्मकार बनी रहे इसका कोई उपाय बतलावें !

उत्तर: तीन गुणों से प्रभावित बुद्धि कभी एक भाव में नहीं रह सकती । जो

बुद्धि के द्वारा ब्रह्मबोध करना चाहते हैं उनका बोध भी भ्रम रूप ही रहेगा। बुद्धि कभी निरन्तर ब्रह्माकार नहीं रह सकती। निद्रा, मुर्छा, संसार के कार्यकाल में वह एक रस नहीं रह सकेगी। इस प्रकार बुद्धि कभी जाग्रत रहेगी, कभी लीन होगी, कभी मुर्च्छित होगी और बुद्धि को सदा ब्रह्माकार बनाये रखने की चेष्टा वाले सदा दुःखी ही बने रहेंगे। बुद्धि, मन, चित्त, इन्द्रिय प्राण एवं देह को अनात्मा जान लेने पर भी बुद्धि ब्रह्माकार रहे यह आग्रह एक देहस्थ बुद्धि में अहंभाव करने से ही होता है।

साधक विचारें ! कोई स्थिति प्राप्त होगी तो कहाँ प्राप्त होगी ? ब्रह्म तो नित्य पूर्ण है उस में तो अणु जितनी भी रिक्तता, खालीपन नहीं है। यदि ब्रह्म निर्विशेष अभिष्ट है आपको तो फिर वह अभी है। ऐसा क्यों मानते हो कि वह अभी नहीं है। अभी है ऐसा निश्चय कर लो तो अभी सब साधनों से मुक्ति हो गई।

यदि सूक्ष्म शरीर की अनित्यता, विकारी पने का बोध हो गया तो अन्त:करण की स्थिति बनाये रखने का आग्रह क्यों होगा ? उस अन्तःकरण को विशेष रूप बनाये रखने की समस्त चेष्टाएँ श्रम मात्र व्यर्थ ही होगी; क्योंकि वह तुम्हारी परिच्छिन्न, जड़, दृश्य है एवं गुणों का कार्य है ? वह सदा एक जैसा नहीं रह सकेगा।

यदि तुम उस अवस्था विशेष को अन्त:करण में प्राप्त करना चाहते हो तो आप कर्ता बन गये। तो फिर सोचो ! तुम कर्ता हो या अकर्ता ? यदि तुम समझते हो कि मुझे आनन्द विशेष अभी नहीं है वह मिलना चाहिये तो आप आनन्द के भोक्ता बन गये। तो आप भोक्ता है या साक्षी ? साक्षी किसी अवस्था विशेष में रहने का नाम नहीं है।

चिदात्मा को एक जड़ दृश्य शरीर में सीमित मत करो। शारीरिक क्रिया का निर्वाह जिस अहंकार द्वारा हो रहा है उस चिदाभास को अपने

चिदात्मा से पृथक् देखो । चैतन्य आत्मा और अहंकार एक नहीं है अहंकार का द्रष्टा आत्मा है । यदि ऐसा बोध हो गया तो चाहे कोटि-कोटि इच्छाएँ होती रहे, साक्षी आत्मा स्वरूप तुम में इन इच्छाओं, क्रियाओं एवं भोगों से किंचित् भी अन्तर नहीं पड़ता है ।

संसार में कोटि-कोटि जीव, जन्तु कीट, पतंगा, पशु, पक्षी, करोड़ों मनुष्यादि हैं और मैं यह सब आत्मा ही हूँ, तब उनके जीवन की जैसी स्थिति है वैसी ही स्थिति किसी एक जीव की और हो तो उससे मुझ व्यापक चिदात्मा का क्या बनना बिगड़ना ।

याद रखो ! वृत्ति की स्थिरता सम्भव नहीं है चाहे जितना प्रयत्न करलो वृत्ति स्थिर होगी समाधिस्त होगी, तो विक्षिप्त भी होगी । सहस्त्रों वर्षों की समाधि के पश्चात भी विक्षेप आता है । अत: संसार में कोई ऐसा उपाय नहीं है कि जिससे अन्त:करण की स्थिति सदा एक जैसी बनी रहे और दु:ख कभी न आवे । ऐसी स्थिति में दु:ख-सुख समता बनाय रखने का एक ही उपाय है असंगता । साक्षी भाव, द्रष्टाभाव में स्थिति । सुख या दु:ख जो भी आ जाय या चले जाय तुम इनमें असंग बने रहो इनके साक्षी रहो । जैसे किसी दूसरे के शरीर पर कोई घटना घटती है तब हम उनके लिये व्याकुल नहीं होते हैं मात्र जानते रहते हैं कि उसे हो रही है । इसी प्रकार अपने कहलाने वाले शरीर पर भी होती घटनाओं को दूर से तटस्थ होकर देखते रहो । इसके अतिरिक्त ब्रह्मभाव में रहने का अन्य कोई उपाय नहीं है ।

प्रश्न-१८८: काम, क्रोध, लोभ, मोहादि, वृत्तियों से मुझे छूटकारा प्राप्त होने का क्या उपाय है ?

उत्तर: वस्तुत: यह काम, क्रोध, लोभ, सुख, दु:ख, शोक, हर्ष, चिन्ता, भय, राग-द्वेष आदि का व्यवहार अन्त:करण द्वारा ही सम्पादित होता है ।

इसका स्वामी जीवात्मा है, मैं तो इनके भाव अभाव का साक्षी हूँ। इन समस्त अनुकूल प्रतिकूल वृत्तियों को लाने, निकालने, रोकने, हटाने, मिटाने, बढ़ाने का काम मेरा नहीं है न मेरे चाहने पर ये आते हैं, न मेरे चाहने पर ये जाते हैं। मुझ अनन्त महासागर रूपी आत्मा में अन्त:करण की वृत्ति रूप तंरगे उठती,बैठती टकराती है, इनका न मैं कर्ता हूँ न भोक्ता हूँ। इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

जिसे यह बोध होगया कि मैं यह एक देह एवं एक अन्त:करण नहीं हूँ, तब उस एक देह के अन्त:करण में कोटि-कोटि ऊंच-नीच इच्छा रूप वृत्ति उत्पन्न होने से भी उसका मेरे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। उन अनन्त इच्छाओं के उदय अस्त होने से उस साक्षी पुरुष के स्वरूप में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता।

प्रश्न-१८९: ज्ञानी को किस प्रकार का निश्चय करके रहना चाहिये ?

उत्तर: तत्त्वदृष्टि यह है कि मैं अखण्ड, सर्व व्यापक, सर्वा धिष्ठान, सर्वाधार ब्रह्म हूँ। सम्पूर्ण सृष्टि के समस्त जीव अच्छे-बुरे एवं उनके कर्म मैं हूँ। मैं ही कीट, पतंग, पशु, पक्षी, देव, दानव, भूत-प्रेत, ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, गणेश, वरूण, चन्द्र, सूर्य हूँ। अथवा यह सब कुछ नहीं है मैं ही एक मात्र हूँ। इन दोनों दृष्टि के अलावा कोई अन्य तत्त्वदृष्टि नहीं है।

जो कोई भी एक अन्त:करण को अमुक प्रकार का बनाना चाहता है, तब तक वह धर्मात्मा, साधक, भक्त, योगी, पण्डित हो सकता है किन्तु वह तत्वज्ञ नहीं हो सकता। समझना यह है कि अन्त:करण की कोई अवस्था मेरी नहीं है। अन्तःकरण की किसी भी प्रकार की स्थिति से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

यदि तुम किसी अवस्था को सत्य मानते हो तो तुम सत स्वरूप नहीं । यदि तुम किसी को ज्ञान स्वरूप मानते हो तो तुम ज्ञान अर्थात् चित स्वरूप नहीं हुए और तुम किसी को आनन्द स्वरूप मानते हो तो तुम स्वयं आनन्द स्वरूप नहीं हो । जबकि शास्त्र तुम्हें सच्चिदानन्द स्वरूप स्वभाव से बिना प्रयत्न के बताते हैं ।

प्रश्न-१९०: ब्रह्मज्ञान हो जाने के बाद संसार का व्यवहार होता है या नहीं ?

उत्तर : ब्रह्मज्ञान होने के बाद ब्रह्मज्ञानी मल-मूत्र, भोजन, शयन की तरह विवाह सम्बन्ध राज्य संचालन, युद्धादि भी कर सकता है । अपराधी को प्राण दण्ड भी दे सकता है । अर्जुन, हनुमान, राम, कृष्ण, जनक, दशरथ ऋषभदेव, शुकदेव, जड़भरत आदिको यदि संसार नहीं दिखाई पड़ता तो राज्यपालन, युद्ध, उपदेश विवाह सन्तानोत्पत्ति आदि विभिन्न प्रवृत्ति कार्य कैसे कर पाते ?

कहने का तात्पर्य यह है कि अद्वितीय ब्रह्मज्ञान होने पर भी प्रपंच की प्रतीति होती रहने पर भी वह समस्त व्यवहार करने पर अपने मन मैं ऐसा जानता रहता है कि यह सब प्रकृति का कार्य प्रकृति द्वारा होता रहता है, मैं तो नित्य, शुद्ध, निर्विकार, ज्ञान, स्वरूप ब्रह्म हूँ । ज्ञान तो भ्रान्ति का निवर्तक है ज्ञान प्रतीति का विरोधी नहीं है ।

जीवन निर्वाह जैसे अज्ञान काल में चलता है उसी तरह ज्ञान होने पर भी रोटी, कपड़ा, मकान, धनार्जन ज्ञानी का भी चलता रहता है । प्राय: अनेको सन्त जीविका उपार्जन करते हुए जीव कल्याणार्थ उपदेश भी करते देखे जाते हैं । कबीर, नानक, सदन, रैदास, धन्ना, आदि । ज्ञानदेव के पिता ने गुरु आज्ञा से संन्यास लेने के बाद विवाह किया एवं चार सन्तानों को जन्म दिया । जो जगत् प्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानी हुए ज्ञानदेव, मुक्ताबाई,

निवृत्तिनाथ, सोपान ।

ज्ञान होने पर भी पांचों ज्ञान इन्द्रिय अपना ठीक काम करती रहती है । यदि रंग, स्वाद, गन्ध, स्पर्श, शब्दादि का ठीक पता न चले तो उसे ज्ञान का फल नहीं समझना बल्कि-रोग का लक्षण है एवं उपचार कराना चाहिये ।

ज्ञान केवल अज्ञान को, भ्रमको, अन्धविश्वास को मिटाता है । वह देह, इन्द्रिय, अन्त:करण की प्रकृति में किसी प्रकार की विकृति नहीं करता । ज्ञानी न अधिक काल शरीर रखना चाहता है न शीघ्र देह त्यागना चाहता है । क्योंकि वह इस मिथ्या शरीर को अपना नहीं मानता । इसी तरह अन्त:करण को भी मिथ्या समझ लेने के कारण वह देह, इन्द्रिय, एवं अन्त:करण में विशेष अवस्था बानाकर सब से पृथक् दिखाना नहीं चाहता । वह तो इन सबसे अपने को पृथक् द्रष्टा, साक्षी, असंग, आत्मा रूप से जानता रहता है । जब तक मेरा देह, मेरा मन, मेरी बुद्धि तथा अन्य का देह, अन्य का मन, बुद्धि का भेद है तब तक ज्ञान नहीं हुआ ऐसा ही जानना चाहिये ।

प्रश्न-१९१: ब्रह्मज्ञानी को जगत् के जीवों का कल्याण करने की इच्छा क्यों नहीं होती ?

उत्तर : जो यह सेचता है कि मैं तो मुक्त हो गया हूँ किन्तु मेरे देशवासी या संसार के अन्य बद्ध जीवों को मुझे मुक्ति दिलाना है । यह कहना अज्ञान ही है । यह द्वैत माया मात्र है, द्वैत है ही नहीं तब दूसरे कोई है ही नहीं । एक भात रूप चाँवल हो गया तो अब अन्य चाँवल नहीं रहेंगे वह सब समान भात हो गये । एक दाल पक गई तो सभी समान पक गई । इसी तरह मैं मुक्त एवं ज्ञानी हूँ तो अब अन्य बद्ध एवं अज्ञानी कोई नहीं । ज्ञानी की दृष्टि में कोई अन्य है ही नहीं जिन्हें बद्ध मानकर उपदेश करे । मैं जाग

गया हूँ किन्तु स्वप्न में लगी आग में झुलस रहे लोगों को बचाना है ऐसा विचार करने वाला अभी स्वयं स्वप्न में ही है । यदि खुद जाग गया है तो स्वप्न के अन्य लोगों को बचाने की बात मन में उदय ही नहीं होगी ।

यदि कोई अपने को दुःखी एवं बद्ध मानकर प्रार्थना करे कि हे गुरुदेव ! आप मुझे मुक्ति शान्ति दिलावें । तब उसे कहना चाहिये कि भगवन ! तुम तो नित्य शुद्ध, बुद्ध मुक्त आनन्द स्वरूप परमात्मा हो । अपने में बद्ध की कल्पना कर क्यों दुःखी हो रहे हो । ऐसे जीवों को उनके चाहने पर उपदेश किया जा सकता है ।

प्रश्न -१९२: 'मैं ब्रह्म हूँ' यह कल्पित वृत्ति द्वारा जीव का बन्धन कैसे छूट सकेगा ?

उत्तर: मैं ब्रह्म हूँ जैसे यह कल्पित वृत्ति है । इसी प्रकार मैं जीव हूँ, मैं बद्ध हूँ यह भी कल्पित वृत्ति है बिना जाने, बिना विचारे अपने को जीव एवं बद्ध मान लिया है । अत: कल्पित से कल्पित भ्रम की निवृत्ति सम्भव है । इस कल्पित वृत्ति द्वारा ही ब्रह्मज्ञान हो सकेगा अन्यथा कोई दूसरा उपाय ब्रह्म को जानने का नहीं है । जैसे जहर जहर को, लोहा लोहे को, काँटा काँटे को काटता है, दूर करता है इसी तरह भ्रमज्ञान को भ्रमज्ञान द्वारा दूर किया जाता है । कल्पित वृत्ति का जो अधिष्ठान मैं स्वयं आत्मा हूँ इस अधिष्ठान के बोध से ही कल्पित वृत्ति का बाध होगा । शास्त्र, गुरु द्वारा कर्तापन के मिथ्या अहंकार को दूर करने हेतु अकर्तापन बुद्धि में आरोपित किया जाता है । अभ्यास से कर्ता भाव दूर हो जाने पर भी अकर्ता पन का अध्यास बना रहा तो वह अकर्तापन का अहंकार भी एक बुद्धि का मूल है । उस अहंकार का अकर्तापन का जो साक्षी है वह मैं हूँ ऐसा जानो ।

प्रश्न-१९३: - आत्मा का क्या स्वभाव है ?

उत्तर : आत्मा का ज्ञान स्वभाव है और ज्ञान कभी किसी का ज्ञेय नहीं बनता। '**ज्योतिषामपि तज्ज्योति**' परमात्मा समस्त ज्योतियों का ज्योति है, समस्त ज्ञान का ज्ञाता, ज्ञानस्वरूप है। प्रतीति मात्र उसका स्वभाव है। प्रतीति कराता है किन्तु स्वयं किसी के सम्मुख प्रतीत नहीं होता है।

प्रश्न-१९४: सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में शास्त्रों में एक प्रक्रिया क्यों नहीं है ?

उत्तर : यदि सृष्टि की उत्पत्ति होती तो एक क्रम बताया जाता। सृष्टि अनादि है सदा से प्रबाह रूप है। जितनी प्रक्रिया है वह परमात्मा के रूप में उतरने के लिये सीढ़ियाँ मात्र है। उनके द्वारा हमारी बुद्धि परमात्मा पर पहुंच जाय बस इतना ही प्रयोजन है।

प्रश्न-१९५: आत्मा को अप्रमेय क्यों कहा जाता है ?

उत्तर : समस्त लक्षणों एवं शब्द की प्रवृत्ति संसार का बोध कराने हेतु है। संसार के अन्दर जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध यह चार बाते रहती है किन्तु आत्मा में यह चारों बाते नहीं है। न आत्मा दृश्य है जिसका कोई नाम कल्पित कर निर्देष किया जाय। इन्द्रियों द्वारा केवल बाह्य विषयों का ही ज्ञान होता है। मन-बुद्धि की भी आत्मा तक पहुँच नहीं है। मन, बुद्धि व इन्द्रियाँ जाग्रत तक ही रहती है स्वप्न में यह इन्द्रियां नहीं रहती। स्वप्न में मन-बुद्धि रहते हैं सुषुप्ति में मन-बुद्धि भी नहीं रहते। शब्द की गति भी उस वस्तु में होती है जिसे पहले देखा हो उसका वर्णन किया जाता है। जिसे कभी देखा नहीं उसका वर्णन शब्द द्वारा भी नहीं हो सकता। इस प्रकार ब्रह्म के निर्देष में एक भी निमित्त उपयोगी नहीं है। इसलिये सबका निषेध (नेति-नेति) करके ब्रह्म का निर्देष करने की प्रणाली है। प्रमाण की आवश्यकता वहाँ होती है जहां वस्तु में सन्देह है। ब्रह्म तो अपना अस्तित्व है इसमें किसी को सन्देह नहीं होता कि मैं हूँ या नहीं। यह अपना

आत्मा सबको अपरोक्ष स्वत: सिद्ध है । इस प्रमाण रहित तुरीय वस्तु का निर्देष दृश्य का निषेध करके ही किया जाता है ।

प्रश्न-१९६ : समस्त दृश्य जगत् का आधार क्या है ?

उत्तर : जो कुछ दिख रहा है वह किसी वस्तु के रूप में, किसी देश में, किसी काल में दिख रहा है । अत: जितने परिच्छिन्न पदार्थ दिख रहे हैं उनके दिखने का आधार कोई एक अपरिच्छिन्न सत्ता अवश्य होना चाहिये ।

यह बाहर का संसार इन्हें देखने वाले श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, भोग ग्रहण के द्वार हैं । इन इन्द्रियों के पटुता, मन्दता, अन्धता, स्वभाव को देखने वाला इनके पीछे मन है । मन के चंचल, शान्त, सुख, दु:ख काम क्रोधादि वृत्तियों को देखने वाली इनके पीछे बुद्धि है और बुद्धि सहित समस्त दृश्य सुषुप्ति में अदृश्य हो जाने को देखने वाला एक आधार मैं स्वयं आत्मा हूँ ।

प्रश्न-१९७ : अपने को द्रष्टा, साक्षी, आत्मा तुरीय जानने का लाभ है ?

उत्तर: जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्था से पृथक् मैं तुरीय आत्मा हूँ इस प्रकार जान लेने से मैं आत्मा , नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त साक्षी ब्रह्म हूँ ऐसा स्पष्ट बोध हो जाने से शरीर की क्रिया, शरीर के रोग, भोग, शरीर की अनुकुलता प्रतिकूलता मन के समस्त द्वन्द्व होते रहने पर भी उनमें सत्य बुद्धि नहीं रहती है ।

द्रष्टा, साक्षी, तुरीय आत्मा का बोध हो जाने पर भी तत्त्वदर्शी महापुरुष का व्यवहार तो प्रारब्ध एवं समाज, सम्प्रदाय, जाति की मर्यादानुसार चलता रहता है । ज्ञान होने का यह अर्थ नहीं है कि ज्ञानी जिन्दा ही मर

गया । ज्ञानी का देह है तो उसे भूख-प्यास, शीत-उष्ण, निद्रा, रोग, औषध सभी अज्ञानी की तरह होंगे किन्तु समस्त व्यवहार में उसकी मिथ्या बुद्धि हो जाने से संसारी व्यक्ति की तरह वह दुःखी, व्याकुल, चिन्तित नहीं रहता है । गृहस्थ है तो पत्नी-पति का सम्बन्ध, सन्तान उत्पत्ति, पालन, विवाह आदि कर्म में भी भाग लेता प्रतीत तो होता है किन्तु असंग ही रहता है ।

संसारी लोग ज्ञानी की स्थिति को एक अपराधी की तरह देखते हैं कि अब इन्हें घर में रहने की, काम करने की, धनार्जन करने की, परीवार पालन करने की, अच्छे वस्त्र धारण करने की, अच्छा भोजन करने की क्या जरूरत ?

ज्ञान हो जाने पर उसके मन से संसार के पदार्थों के संयोग वियोग से हर्ष-शोक अज्ञान काल की तरह नहीं होता । पदार्थों से सुख प्राप्ति की भ्रान्ति समाप्त हो जाती है सम्पूर्ण दुःख मेरा मानने से है । मेरा मानना छोड़ दो दुःख नहीं रहेगा । जो अपनी वृत्ति रोक कर दुःख से बचना चाहता है, उसे भी वृत्ति के स्थिर न रहने पर दुःख होगा । जो ध्यान, समाधि से सुख की आशा में प्रयत्न शील है, उसे भी ध्यान न लगन, ध्यान टूटने पर, समाधि से उठने पर निश्चित रूप से दुःख होगा ।

प्रश्न-१९८: हमारे दुःखों के पीछे क्या-क्या कारण है ?

उत्तर : जो वस्तुओं के द्वारा सुख चाहते है उन्हें वस्तु नाश में, वस्तु चोरी में दुःख होगा । जो शरीर की एक जैसी स्थिति बनाये रखने के अभ्यास में लगा है उसे रोग एवं अवस्था परिवर्तन से दुःख होगा । जो परिवार में मोह कर बैठा है उनमें से किसी के वियोग होने पर दुःख होगा । जो अपनी वृत्ति रोक कर दुःख से बचना चाहता है, उसे भी वृत्ति के स्थिर न रहने पर दुःख ही होगा । जो ध्यान, समाधि से सुख की आशा में प्रयत्नशील है, उसे भी

ध्यान न लगने, ध्यान टुट जाने पर, समाधी से उठने पर दुःख होगा । अज्ञान, अविद्या ही हमारे दु:ख का प्रथम कारण है । अपने को अस्थि, चर्म मांस वाला शरीर तो मानो एवं दु:ख न हो ऐसा कभी हो सकता ।

अविद्या के कारण एक देह में, एक घर में अहंकार यह दु:ख का द्वितीय कारण है । अहंकार के कारण किसी में राग हो जाना यह दु:ख का तृतीय कारण है । अपने राग सम्बन्ध से विरोध करने वालों के प्रति द्वेष भाव होना यह हमारे दु:ख का चतुर्थ कारण है और शरीर को मैं मान कर मरने का दु:ख यह पंचम् कारण है ।

प्रश्न-१९९: साक्षी किसे कहते हैं ?

उत्तर : शास्त्र मतानुसार उस सत्ता को साक्षी कहते हैं जो चेतन, समीप, उदासीन रहती है एवं विकारों में रहकर भी निर्विकार बनी रहती है उस आत्मा को साक्षी कहते हैं । साक्षी के सम्बन्ध में पांच बाते जान लेना चाहिये ।

साक्षी का कोई उत्पत्ति करने वाला कारण नहीं होता । यदि साक्षी की उत्पत्ति मानोगे तो उस उत्पत्ति का भी साक्षी अवश्य स्वीकार करना होगा, क्योंकि साक्षी के बिना उत्पत्ति भी सिद्ध नहीं हो सकेगी । अत: साक्षी की उत्पत्ति नहीं होती है ।

साक्षी कभी दृश्य नहीं होता है, क्योंकि साक्षी दृश्य होगा तो उस दृश्य का भी कोई कोई साक्षी स्वीकार करना होगा । और साक्षी का साक्षी नहीं होता है, साक्षी एक ही होता है ।

साक्षी का कोई कार्य नहीं होता है । कार्य होने से द्वैत हो जावेगा और द्वैत होने से अखण्ड नहीं रह सकेगी । अद्वितीयता नहीं रह सकेगी ।

साक्षी का कोई विजातीय जड़ नाम की मायानाम की वस्तु नहीं

होती है । साक्षी में किसी प्रकार का भेद नहीं होता । सब देश, काल, वस्तु, क्रिया जन्म-मृत्यु का मैं साक्षी हूँ ।

प्रश्न-२००: यह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था क्या है ?

उत्तर : यह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था है तो आत्मा ही, क्योंकि यह एक अखण्ड, अपरिच्छिन्न आत्म सत्ता के अतिरिक्त किंचित् भी अन्य नहीं है ऐसा वेद का सिद्धान्त है **'एकमेवाद्वियम ब्रह्म'**, **'नेह नानास्ति किंचिन्'** किन्तु इन तीनों अवस्थाओं का स्वरूप अपरमार्थ है । ये तीनों अवस्थाँए परिवर्तन शील है । जाग्रत में स्वप्न, सुषुप्ति नहीं रहती है स्वप्न में जाग्रत, सुषुप्ति नहीं रहती है । सुषुप्ति में जाग्रत स्वप्न नहीं रहते हैं । इस प्रकार यह तीनों अवस्थाए परिवर्तनशील एवं परिच्छिन्न होने से सत्य नहीं है और यह तीनों अवस्थाएं मेरे स्वरूप में नहीं है । इनमें अपरिच्छिन्न, अखण्ड, अपरिवर्तनशील तुरीय आत्मा मैं ही सत्य हूँ । यह साक्षी इन जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं इनके अभिमानी विश्व, तैजस, प्राज्ञ जीव से पृथक् कोई चतुर्थ अवस्था नहीं है । यह तुरीय आत्मा ही जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था रूप में है और यही उनका अभिमानी विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ भी है । तुम जो अभी हो वह पूर्ण, अद्वितीय, अविकारी ज्ञान स्वरूप ब्रह्मात्मा ही हो ।

नेत्र बन्द करके जो कुछ भी दिखाई पड़ता है वह तुम्हारे मन को कल्पना का ही दर्शन होता है । यह ब्रह्म नहीं है, यह ब्रह्म सम्बन्धी तुम्हारा मनोराज्य है । जिस में सब कल्पना भास रही है चाहे जगत् की हो या जगदीश की वह आत्मा मैं हूँ । अत: हम जब, जहाँ, जैसे हैं वैसे ही पूर्ण ब्रह्म है ।

मैं तीनों अवस्था में हूँ किन्तु यह तीन अवस्था मुझ में नहीं है । आत्मा देह से पृथक् है इसका प्रारम्भ में भेद ज्ञान कराया जाता है किन्तु

पूर्ण बोध के लिये तो जड़-चेतन, द्रष्टा-दृश्य का भेद असत्य हो जाता है और एक रूपता का ही ज्ञान कराया जाता है। अत: देह एवं अवस्था सभी आत्मा हो जाता है और एक रूपता का ही ज्ञान कराया जाता है। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है आत्मा के द्वारा ही तीनों अवस्थाओं का अनुभव होता है। आत्मा ही दृश्य है वही द्रष्टा है, वही ज्ञाता है वही ज्ञेय है, वही प्रमाता है वही प्रमेय है।

हमें इन्द्रिय द्वारा देखे दृश्य विषय का एवं मन, बुद्धि द्वारा सोचे गये, विचारे गये विषयों का विचार नहीं करना है बल्कि नेत्रादि इन्द्रियों एवं मन, बुद्धि की वृत्तियों का जो द्रष्टा है उसका सोऽहम्, अहंब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म इस प्रकार से विचार करना है। द्रष्टा का अन्य द्रष्टा नहीं है। **'न दृष्टे र्द्रष्टारं पश्येः अदृष्टो द्रष्टा' 'द्रष्टेः द्रष्टारं न पश्येत्'** दृष्टि के द्रष्टा को दृष्टि नहीं देख सकती।

प्रश्न-२०१ : ब्रह्म केवल ज्ञान द्वारा ही कैसे प्राप्त हो जाता है ?

उत्तर : जो पदार्थ हमसे दूर होता है उसे वहाँ तक पहुँचने से प्राप्त करते हैं उसके लिये यात्रा का साधन करना पड़ता है। वह वस्तु अन्य की सम्पत्ति है तो क्रय करके, कीमत चुका कर प्राप्त करते हैं। अथवा मांग कर, चुराकर, लूट कर प्राप्त करते हैं, जो वस्तु किसी काल में उपलब्ध होती है उसे उसकाल तक प्रतिक्षा करके प्राप्त करते हैं। यदि वह वस्तु साधन द्वारा उत्पन्न होने वाली हैं तो कुम्हार मिट्टी द्वारा साधन से घड़ा, दीपक, ईंट, खप्परादि की तरह बनाकर प्राप्त करते, सन्तान की तरह उत्पन्न करते। इस प्रकार सभी परिच्छिन्न वस्तुँए , साधन, समय, मूल्य, शक्ति एवं कालान्तर में प्राप्त की जा सकती है।

परमात्मा अखण्ड होने से सर्व देश, काल, वस्तु रूप नित्य अपरिच्छिन्न अपना स्वरूप होने से किसी समय, किसी स्थान पर, किसी

व्यक्ति को अप्राप्य नहीं होने से वह सबको नित्य प्राप्त है, उसके लिये साधन की आवश्यकता नहीं है जो वस्तु पहले से है उसे जानते नहीं है तो किसी पहचान कराने वाले की जरूरत है । पहचानते ही वह पूर्व से प्राप्त वस्तु हमें नूतन पदार्थ की तरह प्राप्त जैसी लगती है किन्तु वह नूतन प्राप्त वस्तु नहीं है बल्कि सनातन प्राप्त स्वरूप ही है ।

अतएव परमात्मा प्राप्ति के लिये हमें अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाय बस इसे छोड़कर किसी अन्य साधन करने की आवश्यकता नहीं है । अविद्या निवर्तक ज्ञान के अतिरिक्त जो भी योग, यज्ञ, ध्यान, समाधि, पूजा, पाठ, जपादि साधन है वे सब ज्ञान के पूर्व चित्त शुद्धि के बहिरंग साधन है । लोग अपने को ब्रह्म प्राप्ति का अधिकार न मान योग्यता प्राप्ति के चक्कर में पड़कर सारे जीवन कर्म, उपासना में ही फंसे रहते हैं । और ज्ञान से वंचित् रह जाते हैं । अत: ज्ञान प्राप्ति की चेष्टा करते रहो । यह बात चरम सत्य है कि बिना ज्ञान के प्राप्त परमात्मा की अनुभूति नहीं हो सकती । ज्ञान प्राप्त करने के लिये चित्त शुद्धि जरूरी है एवं चित्त शुद्धि हेतु दूसरे सभी धार्मिक साधन सामग्री उपयोगी है । अवश्य ही तत्त्वज्ञान साधन काल में कर्म, उपासना, योग, तीर्थ, मन्दिर यज्ञादि द्वैत मूलक कर्म नहीं हो सकेंगे । ज्ञान तो सब साधनों के फल स्वरूप उत्पन्न होता है । एक समय में दो विरोधी वृत्ति नहीं हो सकती । ब्रह्माकार वृत्ति-सोऽहम्, शिवोऽहम् अहंब्रह्मास्मि को साथ उपास्याकार वृत्ति-दासोऽहम्, जीवोहम्, कर्ताहम, भोक्ताहम नहीं रह सकती । ब्रह्माकार वृत्ति द्वारा ही अज्ञान की निवृत्ति होती है ।

प्रश्न-२०२ : तत्त्वज्ञान द्वारा क्या उत्पन्न होता है ?

उत्तर : तत्त्वज्ञान द्वारा न ब्रह्म उत्पन्न होता है न मुक्ति उत्पन्न होती है न जीव ब्रह्म की एकता को उत्पन्न करता है न आनन्द को उत्पन्न करता है ।

ब्रह्म नित्य है, जीव ब्रह्म ही है, ब्रह्मात्मा सदा मुक्त एवं अखण्डानन्द स्वरूप ही है, ज्ञान केवल अज्ञान को, भ्रान्ति को, भय को दूर करता है। अज्ञान के दूर हो जाने पर जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, आनन्द ब्रह्म है उसका मैं रूप में, आत्मा रूप में, सोऽहम् रूप में साक्षात्कार की दृढ अनुभूति हो जाती है। ब्रह्मज्ञान होने पर भेद की निवृत्ति नहीं होती भेद तो कभी था ही नहीं केवल भेद भ्रम की ही निवृत्ति होती है।

प्रश्न-२०३: यह अनुभव क्या वस्तु है ?

उत्तर : यह अपना आत्मा, अपना स्वरूप अनुभव ही है। 'अनु' का अर्थ पीछे 'भव' का अर्थ होना अर्थात् जो सबके पीछे सबके प्रकाशक रूप में रहे वह अनुभव कहलाता है।

प्रत्येक क्रिया, भाव, वृत्ति, वस्तु के होने न होने के पीछे जो ज्ञान है कि मैं इस पुस्तक को जानता हूँ यह पुस्तक हैं, यह जानना ही अनुभव है।

यह समाधि-विक्षेप, सुख-दुःख, काम, क्रोधादि जिसे सब ज्ञात हो रहे है, वह अनुभव है, वह तुम स्वयं हो। अतः आत्मा ही अनुभव है। अपने अनुभव के, अपने होने के लिये किसी को सन्देह नहीं होता है कि मैं हूँ या नहीं। अन्य को प्रमाणित करने हेतु साधन की जरूरत होती है।

प्रश्न-२०४: ब्राह्मण किसे कहते है ?

उत्तर : जहाँ शास्त्रों में ब्राह्मण को ही शास्त्र पढ़ने व ज्ञान का अधिकारी कहा गया है वहाँ जन्म से ब्राह्मण कहलाने वाले को अधिकारी नहीं कहा बल्कि गुण से जिसमें ब्राह्मणत्व का उदय हुआ हो उसे ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बताया है। अब ब्राह्मणत्व के क्या लक्षण होना चाहिये तो इसे भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को बता रहे हैं।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म कर्म स्वभावजम् ।।

-(गीता-१८/४२)

अन्त:करण का निग्रह करना, इन्द्रियों का दमन करना, धर्म पालन के लिये प्रयत्न करना, सत्यार्थ कष्ट सहना, बाहर-भीतर से शुद्ध रहना, दूसरों के अपराधों को क्षमा करना, मन, इन्द्रिय और शरीर को सरल रखना, वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोकादि में श्रद्धा करना, वेद, शास्त्रों का अध्ययन, अध्यापन करना और परमात्मा के तत्त्व का अनुभव करना एवं कराना यह सब ही ब्राह्मण के स्वभाविक कर्म है ।

ब्राह्मण क्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप
कर्माणि प्रवि भक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणै : ।।

-गीता १८/४१

हे अर्जुन(परन्तप) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र के कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों द्वारा विभक्त किये गये हैं चर्म, रक्त, हाड़, मांस, घर परिवार से नहीं है । जैसे-

शौर्यं तेजो धृति दांक्ष्य युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्यर भावश्य क्षात्रं कर्म स्चभावजम ।। १८/४३

प्रश्न -२०५: क्षत्रिय किसे कहते हैं ?

उत्तर: शूर वीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में न भागना, अर्धम, अनीति दुराचार, व्यभिचार को रोकना, अबला, असहाय, निर्बल की रक्षा करना, देश विरोधी कार्य करने वालों को रोकना, देश की आक्रमण करने वालों से रक्षा करना, राज्य कार्य करना, अपराधी को दंड देना ये सब कार्य क्षत्रिय के स्वभाविक होते हैं ।

प्रश्न-२०६ : वैश्य एवं शुद्र के क्या लक्षण होते हैं ?

उत्तर : कृषि गौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्य कर्म स्वभावजम् । क्रय-विक्रय, खेती, गोपालन सत्य व्यवहार यह वैश्य के स्वभाविक कार्य है ।

तथा -

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥

-(गीता १८/४४)

सब वर्णों की सेवा करना, नगर की, वस्त्र, बर्तन, कपड़े, मकान, जूते, चप्पल, मलादि की सफाई, रथ, गाड़ी, वाहन चलाना, पशु रखना, मकान, भोजन बनाना, इत्यादि कर्म शुद्र के कहे जाते हैं । यह सेवा धर्म सबसे महान एवं कठोर है । शुद्ध व्यक्ति शिघ्र निरहंकारी एवं पवित्र हो सकता है ।

प्रश्न-२०७: सत्वगुण का क्या प्रभाव होता है ?

उत्तर : सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है **'सत्वात्सञ्जायते ज्ञानं'** -गीता १४/१७ । सत्वगुण में स्थित विकार रहित विवेकवान् होता है सुख की आसक्ति में बांधता है । **'सत्त्वं सुखे सञ्ज्यति**-गीता १४/९ देह अन्तःकरण और इन्द्रियों में चेतना और विवेक शक्ति उत्पन्न होती है । सत्त्व गुण की वृद्धि के समय देह त्याग करने वाला व्यक्ति उत्तम कर्म करने वालों के दिव्य, निर्मल, सुख साम्राज्य के स्वर्गादि लोकों में जाता है । **'उर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था'** -गीता १४/१८.

प्रश्न-२०८ : रजोगुण का क्या प्रभाव होता है ?

उत्तर : रजोगुण जीव को कर्म करने एवं उनके फलों की आसक्ति में बांधता है । नाना प्रकारकी कामना एवं आशा में जोड़ता है । लोभ, प्रवृति, स्वार्थबुद्धि, कर्मों में सकाम भाव आरम्भ से सोच ही किसी काम में रुचि है । इसे अशान्ति और विषय भोगों की लालसा अधिक होती है । इस गुण

वृद्धि के समय मरने पर कर्मों की आसक्ति वाले इसी मृत्यु लोक में उत्पन्न होता है

'मध्ये तिष्ठन्ति राजसा:' - (गीता १४/१८.)

प्रश्न -२०९: तमोगुण का क्या प्रभाव होता है ?

उत्तर : यह जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य, निद्रा, अनीति, दुष्कर्म, दुराचार, हिंसा, चोरी, मांस, मदिरा, अभक्ष भक्षण, एवं बलात्कारादि विकर्मों में जोड़ता है । यह, ज्ञान विवेक बुद्धि को ढककर प्रमाद में लगाता है और यह जीवात्मा की अधोगति करा कीट, पतंग, पशु, पक्षी सर्पादि नीच योनियों को तथा नरकों को प्राप्त कराता है **'अधो गच्छन्ति तामसा:'**

-(गीता १४/१६ .)

प्रश्न-२१०: तत्त्वज्ञानी महापुरुषों पर इन तीनों गुणों का क्या प्रभाव पड़ता है ?

उत्तर : तत्त्वज्ञानी समस्त बाह्य तथा भीतरी क्रियाओं को तीनों गुणों के द्वारा की हुई देखता है वह इन तीन गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है । तीनों गुणों से अत्यन्त परे सच्चिदानन्द घन स्वरूप मुझ परमात्मा को आत्म रूप, सोऽहम् रूप तत्त्व से जानता है । इन देह के कारण तीनों गुणों का दृश्य जान कर जन्म-मृत्यु वृद्धवस्था और सब प्रकार के दुखों से मुक्त हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है ।

प्रश्न-२११ : ब्रह्म कहने का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर : ब्रह्म शब्द का अर्थ समस्त भेदों से रहित जिसमें देश, काल, वस्तु का विभाजन नहीं है, जिसमें सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद नहीं, ऐसी जो वस्तु है वह ब्रह्म है । ब्रह्म भी एकनाम है ऐसा समझना भ्रम है । ब्रह्म, आत्मा, मैं, चैतन्य, द्रष्टा, अखण्ड, असंग कोई राम, कृष्ण, शिव

की तरह नाम नहीं है । आत्मा ब्रह्म है का अर्थ है कि यह आत्मा जिसको तुम परिच्छिन्न समझते थे उस परिच्छिन्नता का निषेधक ब्रह्म शब्द है । आत्मा परमात्मा नाम नहीं है । अन्य का परिचयात्मक नाम, रूप होता है । परमात्मा, आत्मा स्व है इसलिये नाम एवं रूप नहीं है । इसे सूचित करने के लिये कहते हैं आत्मा है अर्थात मैं हूँ । इस देह में जो बैठा है चैतन्य सत्ता रूप से वह मैं हूँ । स्वर्ग-नरक जाने वाला, पाप-पुण्य करने वाला, सुख-दुःख भोगने वाला जीव मैं नहीं हूँ । आत्मा तो परिपूर्ण चैतन्य वस्तु है उसे बताने के लिये ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

प्रश्न-२१२: परमात्मा निराकार है या साकार है ?

उत्तर : निराकार भी एक प्रकार का आकार है । क्योंकि वह साकार की अपेक्षा विशेष है । अत: वह भी स्वतःसिद्ध नहीं है, क्योंकि उसका भी अनुभव करने वाला ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, वशिष्ठ, शुक, नारद, ध्रुव, शंकराचार्य, आदि महापुरुषों में से किसी ने उसका अनुभव किया होगा तभी अपने शास्त्रों में वर्णन किया है । जो कहते हैं ईश्वर केवल निराकार है उन्हें सोचना चाहिये कि वह ईश्वर किसी के अनुभव में आया है या नहीं । यदि अनुभव किया है तो किसी न किसी विशेषता युक्त आकार का ही तो अनुभव किया होगा । अनुभव करने के दो ही रूप है, या तो इदम् रूप या अहम् रूप । इदम् रूप में किया होगा तो पूर्ण साकार में ही अनुभव किया जासकेगा और अहं रूप में अनुभव हुआ तो वेदान्त का लक्ष्य मिल गया । जिसका इदम् रूप भी न हो और जिसका अहं रूप भी न हो तब उसके होने में क्या प्रमाण ? प्रमाण के दो ही रूप हो सकते है या तो 'यह' रूप में, 'इदं' रूप में या अहं रूप में, मैं रूप में, इस दो के अतिरिक्त तीसरा तो जानने का कोई उपाय ही नहीं है ।

यदि आत्मा चेतन वस्तु न हो तो यह रूप जगत् को कैसे सिद्ध

किया जा सकेगा ? किन्तु जो अपना आपा है, आत्मा है, मैं हूँ वह किसी दूसरे के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकेगा क्योंकि मेरे अतिरिक्त यह रुप में इदंम रुप में सब जड़ एवं पर प्रकाश्य वस्तु है । जो स्वयं ही अपने को नहीं जानते हैं वह मुझ चैतन्य को कैसे जान सकेंगे ।

परमात्मा से भिन्न जो भी यह नाम, रूप, दृश्य, अनित्य, परिच्छिन्न, चिन्तनीय, व्यवहार्य, भोग्य वस्तु है उसका निषेध करके परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का वेद नेति-नेति निषेध मुख से वर्णन करता है फिर जो शेष रह जाता है वह परब्रह्म परमात्मा है, जिसे अदृश्यम्, अलक्षणम्, अच्निंत्यम्, अव्यप देशम, अशब्दम्, अस्पर्शम् अरूपम् इत्यादि निषेध लक्षणों वाला कहा जाता है । अथवा **सर्वं खल्विंद ब्रह्म** इस प्रकार यह भी परमात्मा, वह भी परमात्मा है, यह विधेय रूप से भी परमात्मा की अनुभूति करने का है ।

इस एक शरीर को अपना मानने एवं इस एक देह के अन्त:करण और अज्ञान कारण शरीर को अपना मानने से प्रपंच बना रहेगा किन्तु

सम्पूर्ण स्थूल शरीर को अपना स्थूल शरीर, सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर को अपना सूक्ष्म शरीर एवं सम्पूर्ण कारण शरीर को अपना कारण शरीर मान लेने से प्रपंच का उपशम होकर तुरीय तत्त्व में स्थिति हो जावेगी अद्वैत अवस्था प्राप्त हो जावेगी ।

प्रश्न -२१३: ईश्वर है इसे कौन बताता है ?

उत्तर: यह ईश्वर है, यह गुरु है, यह जगत् है, यह सूर्य है, यह चन्द्र है, यह देव है, यह माया है, यह जीव है, स्वर्ग है, नरक है इन्हें कौन बताता ह ? यह सब जिसने अनुभव किया एवं कहा वह अनुभव रूप ज्ञान स्वरूप आत्मा मैं हूँ ।

ईश्वर है यह निर्णय किसने किया ? यह गुरु बनाने योग्य है इसका

निर्णय किसने किया ? हम ने किया । तब हम ईश्वर के निर्णायक महेश्वर हुए एंव गुरु का निर्णय करने वाले गुरु के भी गुरु परमगुरु हुए । किन्तु हममें यह एक देह का अभिमान रूप पशुत्व तो तब आता है जब हम अस्थि, चर्म, मज्जा, रक्त, मांस के देह के साथ आपने मैं को बांध कर बैठ जाते हैं ।

सोचें ! सम्पूर्ण आकाश विराट् का शरीर है तो इस विराट् आकाश में जो भी शरीर है वह उस विराट् के शरीर से भिन्न कैसे हो सकेंगे ?

यह जीव-अजीव सृष्टि जितनी भी प्रतीत हो रही है, उसे जो ज्ञानी अपने में देखता है तब उसे ग्लानि, नफरत, द्वेष, राग, घृणा, मोह, कैसे हो सकता है ? जब हम किसी से अपने को पृथक् मानेंगे तभी हमें उससे घृणा, अहंकार, क्रोध, काम, लोभ, मोह भोगादी शरीर में नाखुन, दांत, केश, मल, मूत्र, रक्त, लार, कफ, थूक है, कभी, घृणा नहीं होती किन्तु शरीर से पृथक् होते ही अपवित्र हो जाते हैं । जब मैं विभू आत्मा हूँ तो मुझ से कुछ भी पृथक् अपवित्र नहीं है ।

प्रश्न-२१४ : तत्त्वज्ञानी का इन सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के प्रति कैसी दृष्टि रहती है ?

उत्तर : तत्त्वज्ञानी सत्त्वगुण के कार्य रूप प्रकाश अर्थात् इन्द्रिय मनादि में आलस्य का अभाव, रजोगुण के कार्य प्रवृत्ति अर्थात् कार्य करने में उत्साह तथा तमोगुण द्वारा प्रमाद अर्थात् निद्रा, आलस्य, कार्य में अरूचि होने से न तो द्वेष करता है और न निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा करता है । **- गीता** १४/२१ ।

जो साक्षी के सदृश्य स्थित हुआ गुणों के द्वारा विचलित नहीं होता है और गुण ही गुणों में बरतते हैं इस प्रकार समझता हुआ सच्चिदानन्द घन परमात्मा में सोऽहम् भाव से स्थित रहता है एवं उस आत्म भाव, ब्रह्म भाव

से कभी विचलित नहीं होता है ।

-गीता १४/२० ।

तत्त्व को जानने वाला तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, श्वांस लेता हुआ, सोता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आंखों को खोलता, मूँदता हुआ भी सब प्रकार से नि:सन्देह ऐसा मानता है कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ।

(गीता ५/८,९)

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुण कर्म विभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।। -गीता :३/२८

तथा

यस्य नाहङ् कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ।।

-गीता:१८/१७

जिस पुरुष के अन्त:करण में 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में और कर्मों में लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोंकों को भोगकर अथवा मारकर भी वास्तव में ऐसा समझता है कि न तो मैं कर्ता हूँ और न मैं भोक्ता हूँ । ऐसा निष्ठावान् किसी प्रकार के पाप से बन्धता नहीं है ।

नैव किञ्जित करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित ।
इन्द्रयाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन ।।

-गीता:५/८९

तत्त्व को जानने वाला अर्थात् अपने को देह, इन्द्रिय, प्राण, मन,

बुद्धि अन्त:करण से पृथक् द्रष्टा रूप असंग आत्मा जानने वाला समस्त प्रवृत्ति में इन्द्रियों को ही उनके गुण स्वभाव में बरता देखता है एवं अपने को अकर्ता देखता है ।

प्रश्न-२१५ : अहंकारी किसे कहते है ?

उत्तर : समस्त क्रियाएं पंचभूत के पच्चीस तत्त्वों के द्वारा प्रारब्धानुसार नदी प्रवाह की तरह होती रहती है किन्तु उन क्रियाओं, अवस्थाओं को अपनी क्रिया, अवस्था जानने वाला मिथ्या अभिमानी संसार बन्धन को प्राप्त होता है । अत: बन्धन से मुक्त होने के लिये मछली की तरह जल स्त्रोत की तरफ चढ़ो अर्थात् विषय से इन्द्रिय की ओर, इन्द्रिय से मन की ओर, मन से बुद्धि की ओर एवं बुद्धि से साक्षी में छलांग लगाओ । विषय से बुद्धि तक एक परिधि है एवं साक्षी केन्द्र है । परिधि पर कितने ही तेजी से गति करो केन्द्र से दूर ही रहोगे । साक्षी में ठहरो ।

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश: ।
अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।। गीता ३/२७

लेकिन

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वश: ।
य: पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।। १३/२१ गीता

जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति के पंच भूतों के पच्चीस तत्त्वों द्वारा ही किये हुए देखता है और अपने को, अकर्ता देखता है वही यथार्थ आत्मदर्शी है ।

इन्द्रियाणि पराव्याहुरिन्द्रियेभ्य: परं मन: ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे: परतस्तु स: ।। गीता ३/४२

विषय से इन्द्रियां पर अर्थात् श्रेष्ठ है इन्द्रियों से पर अर्थात् श्रेष्ठ मन

है, मन से श्रेष्ठ बुद्धि है एवं बुद्धि से भी पर अर्थात श्रेष्ठ स: अर्थात् आत्मा है । यही यथार्य ज्ञान है किन्तु इसे अज्ञान ने आवृत कर रखा है इसलिए सभी जीव मोहित हो रहे हैं ।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव: – गीता ५-१५

अत: इस अज्ञान को ज्ञान के द्वारा दूर करो । यह अज्ञान ही जीव का शत्रु है, इसे असंग शास्त्र के द्वारा मारा जा सकता है । विवेक ज्ञान रूप तलवार द्वारा छेदन करें कि मैं द्रष्टा, साक्षी, असंग, आत्मा हूँ । यही विवेक ज्ञान तलवार है, इसे धारण करने पर कोई पाप स्पर्श नहीं कर सकेगा ।

प्रश्न-२१६: परमात्मा को अव्यवहार्य क्यों कहते हैं ?

उत्तर: हमारी पांचों ज्ञानेन्द्रियां संसार के शब्द, स्पर्श, रूप , रस, गन्ध विषयों को ग्रहण करने हेतु है । विषय दृश्य है । परमात्मा को इन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकती । परमात्मा इन्द्रियों का द्रष्टा है ''न दृष्टे र्द्रष्टारं पश्ये : अदृष्टो द्रष्टा'' । जब तक ज्ञानेन्द्रियों से देखेंगे तब तक विषय को ही देखेंगे परमात्मा को नहीं । परमात्मा अप्रमेय होने से अव्यवहार्य है । जो किसी ज्ञानेन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता उसके साथ कोई भी व्यवहार कैसे हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता है । अनुमान के द्वारा भी परमात्मा की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अनुमान बुद्धि द्वारा होता है, परमात्मा तो बुद्धि का द्रष्टा है । बुद्धि अपने द्रष्टा परमात्मा के सम्बन्ध में अनुमान नहीं कर सकती है ।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम ।। केनोप. २/३

ब्रह्म जिसकी बुद्धि का विषय नहीं है जो कहता है कि मैं परमात्मा को दृश्य विषय की तरह नहीं जानता, बस वही परमात्मा को जानता है

और जो कहता है कि मैंने परमात्मा को ज्ञान के द्वारा याध्यान के द्वारा देख लिया है ज्ञान लिया है वह झूठ है वह परमात्मा को कभी भी नहीं जान सकता ।

आत्मेत्येवोपासीत

श्रुति कहती है कि वह परब्रह्म परमात्मा कोई दूसरा नहीं है । वह अपना आत्मा ही है जिस चैतन्य के बिना, जिस मैं के बिना कोई व्यवहार नहीं होता यह आत्मा इस शरीर के भीतर सबके पीछे, सबका ज्ञाता, सबका प्रकाशक है ।

'इंद', 'यह' के रूप में परमात्मा कभी नहीं देखा जा सकता । यह संसार देश-देश से, काल-काल से, वस्तु-वस्तु से, व्यक्ति-व्यक्ति से परिच्छिन्न है, इसलिए अनित्य है किन्तु मैं सर्व देश, काल, वस्तु व्यक्ति से अपरिच्छिन्न, नित्य, अखण्ड, एक रस हूँ । परमात्मा की जब प्राप्ति होगी तब मैं के रूप में ही होगी । मैं अप्रमेय होने से अव्यवहार्य है । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का परस्पर व्यतिरेक है, अभाव हो जाता है । जाग्रत में स्वप्न, सुषुप्ति नहीं, स्वप्न में जाग्रत, सुषुप्ति नहीं, सुषुप्ति में जाग्रत, स्वप्न नहीं किन्तु मैं तीनों अवस्था में और तीनों के बिना भी रहता हूँ । मैं ज्यो का त्यों बना रहता है । बचपन से आज तक सब आये, गये, बदले किन्तु मैं अपरिवर्तनशील बना रहा बस इसी मैं को ब्रह्म जानो ।

प्रश्न-२१७: मैं समस्त व्यवहारों में निर्विकार कैसे हूँ ?

उत्तर: मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ, मेरा मन चंचल है, मेरा मन शान्त है, मेरे मन में काम जगा, मेरे मन में क्रोध उठा ऐसा सभी को अपने मन की स्थिति का अनुभव होता है । अतः इस मनके दुःख-सुख,चंचल, शान्त, काम,

क्रोध रूप वृत्ति का अवश्य कोई साक्षी है, अवश्य कोई द्रष्टा है, अवश्य कोई देखने वाला जानने वाला है । यह वृत्तियां अवस्थाँए कम ज्यादा आती जाती है । लेकिन इन कम ज्यादा आने-जाने में अपना आपा अर्थात् मैं (आत्मा) ज्यों का त्यों रहता हूँ ।

यदि मैं दु:खी, रोगी, क्रोधी, कामी, चंचल, सुखी, होता तो इन अवस्थाओं के बदलने से इन वृत्तियों के निवृत्त होने से मैं भी निवृत्त हो जाता, मैं भी चला जाता, मैं भी अदृश्य हो जाता, मैं भी नष्ट हो जाता । लेकिन में इन सुख-दु:ख, काम-क्रोध, चंचल-शान्त के भाव-अभाव में भी एक रस द्रष्टा, असंग, साक्षी उपस्थित रहता हूँ । यदि मैं भी इन वृत्तियों के साथ निवृत्त हो जाता तो फिर इनके कम,ज्यादा भाव, अभाव का कौन साक्षी, कौन द्रष्टा, कौन ज्ञाता रहता ? साक्षी विकारी नहीं होता । साक्षी तो बुद्धि के सहस्त्र-सहस्त्र विकारों का द्रष्टा है । अत: अपना स्वरूप निर्विकार है ।

प्रश्न-२१८: मैं क्या है ?

उत्तर : मैं का प्रयोग सभी व्यक्ति करते हैं किन्तु इसका अर्थ सब नहीं जानते हैं । मैं न देह है, न प्राण है, न इन्द्रिय है, न मन है, न बुद्धि है । तब क्या मैं जीव हूँ ? नहीं । जीवाभास भी मैं नहीं है ।

मैं का अर्थ अपरिच्छिन्न, असंग, निर्विकार, निराकार, आत्मा है । किन्तु हमारी दृष्टि इस अपने अखण्ड एकरस आत्मस्वरूप की ओर जाती ही नहीं हैं । हम तो क्षणिक सुख-दुख देते वाली वस्तु की ही ओर जाते हैं । हम अपने आप को न देखकर जो कुछ मेरे हैं उन मेरे को ही देखते है और उसे ही मैं मान लेते हैं किन्तु जहाँ तक स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाएं एवं उनका कार्य है यह सब 'मेरे' कहे जाते हैं । अस्तु ! यह सब मैं नहीं हूँ इन सबसे विलक्षण मैं हूँ इसे ही द्रष्टा,

साक्षी आत्मा जानो ।

प्रश्न-२१९ : शिव किसे कहते हैं ?

उत्तर : जिसमें सब सो जाते है ऐसी सुषुप्ति अवस्था ही शिव है । उस सुषुप्ति में आपकी सम्पूर्ण सृष्टि का अभाव हो जाता है सबको सुलाकर आप भी अपने शरीर को सुलादेते हैं जो प्रलय रूपा है । यह सुषुप्ति अवस्था हमें प्रतिदिन बतलाती है कि यह जो मेरा कहलाने वाला ममता का विषय संसार एवं अहंता का विषय यह स्थूल नाम, रूप, शरीर, धन, पुत्र, पति, पत्नी, मकान, सम्पत्ति आदि आपका प्रेमास्पद नहीं है । क्योंकि इन सभी को अपने शरीर सहित प्रति रात्रि छोड़ चले जाते हैं, उसमें जो हमारा प्रेमास्पद है वह द्रष्टा, साक्षी है वही शिव है ।

सुषुप्ति अज्ञान ग्रस्त होने से अमगंल रूप अशिव है । सुषुप्ति में सुख-दुःख प्रत्यक्ष मिट जाने पर भी बीज रूप विद्यमान रहते हैं । सुख दुःख के बीज से रहित निर्बीज अपना आत्मा ही शिव है । जहाँ उत्पत्ति, स्थिति, संहार, तिरोधान, अनुग्रह इन पांचों कृत्यों में विद्यमान और इनसे विलक्षण शिव है, वही आत्मा हम शिव स्वरूप है ।

प्रश्न-२२०: आत्मा को जानने का क्या उपाय है ?

उत्तर : पहले विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षा, उपरामता, समाधानता तथा मुमुक्षता इन साधनों सहित किसी श्रोत्रिय ब्रह्मदर्शी गुरु की शरण में जाकर वेदान्त तत्त्व का श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा तत, त्वम्, पदार्थ का शोधन करो । तब तुम्हें आत्म साक्षात्कार हो जावेगा । दुःख निवृत्ति का एक मात्र यही उपाय है ।

अपने से पृथक् जो विषय दिखता है उसे अपने से पृथक करो । विषयों को जानने के जो करण श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, इन पांचों

करणों को भी अलग कर दो फिर इन करणों के कारण मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को भी अलग कर दो, फिर जो बचे वही तुम्हारा स्वरूप है। जब तक तुम जिसे-जिसे जानते हो उससे अपने को पृथक् नहीं करोगे, तबतक तुम अपने को नहीं जान सकोगे। अब दृष्टी दृश्य से उलटी दिशा में द्रष्टा की तरफ चली। जैसे मछली पानी बहने की उल्टी दिशा में बहती मूल स्त्रोत(उद्‌गम) स्थान पर पहुंच जाती है। इसी तरह विषय से इन्द्रिय, इन्द्रिय से मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से साक्षी में। बस यहीं ठहर जाओ। सब हटा देने के बाद ज्ञान स्वरूप अपना आत्मा शेष रह गया जो सर्वाधिष्ठान सर्व प्रकाशक, सर्व साक्षी है। जीवन में सब दु:ख देह को मैं मानने से है। देह भाव की निवृत्ति से दु:ख की निवृत्ति हो जाती है। ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति के पूर्व, दु:ख की निवृत्ति किसी साधन से नहीं हो सकती। दु:ख आने जाने वाले हैं। आप सदा रहने वाले हैं आप प्रकाशक है आप में दु:ख नहीं है।

प्रश्न-२२१: किस जिज्ञासु को ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकेगा ?

उत्तर : जो अद्वैत ज्ञान का गलत रूप समझेगा कि अब ज्ञान होने के बाद संसार नहीं दिखना चाहिये, ऐसे भ्रमित ज्ञान वाले को कभी सत्य ज्ञान नहीं होगा। उसे गुरु भी नहीं मिलेगा, उसे तो गुरु भी संसारी मालूम पड़ेगा। खाते, पीते, सोते तथा सब काम अज्ञानी के समान गुरु भी दिखाई पड़ते हैं। जब उन्हें ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ तो मुझे ब्रह्मज्ञान कैसे हो सकेगा ? यह शंका अज्ञानी के हृदय में होती है और ऐसे अश्रद्धावान् को ज्ञान नहीं होगा एवं ज्ञान के बिना कल्याण नहीं हो सकेगा।

जिसको जीवन में वेद, शास्त्र, समझाने वाले गुरु मिलने पर मोक्ष की अनुभूति नहीं हो सकी उसे मरने पर मोक्ष कौन दिला सकेगा ? कोई नहीं

मोक्षाभिलाषी को यह बात ठीक से समझ लेना चाहिये कि संसार दिखाई देने पर भी हम नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप ब्रह्म है । भागवत के सातवें स्कन्ध में बतया है कि तत्त्वज्ञ महापुरुष भगवान वासुदेव की चलमूर्ति है एवं शास्त्र भगवान की अचल मूर्ति है ।

प्रश्न-२२२: सद्गुरु किसे कहना चाहिये ?

उत्तर : प्रथमतो माता-पिता गुरु, फिर जो तुम्हें अक्षर ज्ञान सिखावे वह शिक्षा गुरु, जो तुम्हे आचार की रीति सिखावे वह धर्म गुरु, जो इष्ट व मंत्र बतावे वह योग गुरु । यह सब व्यवहार के उपासना के गुरु । सभी सम्मानीय है किन्तु वास्तविक सतगुरु वह है जो तुम्हारे अज्ञान को मिटादे, तुम्हारा देहाध्यास दूर करासके, तुम्हें जीवित ही आत्मानुभूति करा सके । परमात्मा की प्राप्ति करा सके । जीवित अवस्था में मुक्ति दिला सके ।

सदगुरु वही तो तुम्हारी अनेक इच्छाओं को एक इच्छा में बदल सके । तुम नाना वस्तु को नहीं चाहते बल्कि सुख चाहते हो, उस सुख को भी वह तुम्हारे अन्दर बतादे फिर उसका नाम आनन्द, आत्मा, परमात्मा बता दे कि तुम अखण्डानंदायक आत्मा को चाहते हो । फिर यह बोध करादे कि वह आनन्द स्वरूप परम प्रेमास्पद वस्तु तुम ही हो । जब तक पूर्णता का बोध कराने वाला नहीं मिले तब तक गुरु खोजते रहो । जब तुम्हें अपनी पूर्णता का बोध हो गया तब तुम कृत-कृत्य हो गये । अब तुम्हें बाहर गुरु खोजने की जरूरत नहीं है । जहां अज्ञान नहीं वहां गुरु, शास्त्र की भी जरूरत नहीं । जहां रोग नहीं, वहां वैद्य रूप गुरु एवं शास्त्र रूप औषध की जरूरत नहीं । पर इसका यह मतलब नहीं कि व्यवहार में गुरु, शास्त्र ईश्वर का निषेध हो गया ।

यावज्जीवं त्रयो वन्दया वेदान्तो गुरु ईश्वरः ।

प्रश्न-२२३: ध्यान अथवा क्रिया का उपयोग कहां होता है ?

उत्तर : जहाँ पदार्थ दूर हो अन्य हो वहां पर क्रिया, साधन करना आवश्यक है। ध्यान करना आवश्यक है। उसे प्राप्त करना चाहोगे तो उसके लिये साधन परिश्रम करना होगा, कर्म, उपासना का फल ज्ञान है किन्तु जहाँ ज्ञान का फल क्रिया, उपासना या योग नहीं है वहाँ ज्ञान स्वयं फल रूप है क्योंकि अप्राप्त नहीं है अपना स्वरूप नित्य प्राप्त है। उसकी प्राप्ति में क्रिया व ध्यान की आवश्यकता नहीं है।

हम किसी को श्रेष्ठ मानेंगे तो पाना चाहेंगे, निकृष्ट मानेंगे तो उसे छोड़ना या हटाना चाहेंगे किन्तु अपने विषय का ज्ञान प्रर्वतक या निवर्तक नहीं होता। अपने को पाना या छोड़ना बनता नहीं।

प्रश्न-२२४: ओंकार उपासना किस प्रकार करना चाहिये ?

उत्तर : ओंकार का जप करते हुए उस में विश्व, तैजस, प्राज्ञ का ध्यान करना। इस प्रकार ओंकार उपासना के द्वारा अद्वैत तत्त्वज्ञान के हम अधिकारी बन सकते हैं।

अकार के उच्चारण के साथ जाग्रत अभिमानी को छोड़कर स्वप्नाभिमानी तैजस से एक हो जाओ। उ कार के उच्चारण के साथ विश्व तैजस को छोड़कर सुषुप्ति अभिमानी प्राज्ञ के साथ एक हो जाओ। मकार की ध्वनी समाप्ति के साथ प्राज्ञ को छोड़ अमात्र तुरीय के साथ एक हो जाओ। इस प्रकार ओंकार का ध्यान एवं विचार करो यह 'त्वं' पद के चिन्तन की रीति है।

प्रश्न-२२५ : 'तत्' पद का चिन्तन कैसे करना चाहिये ?

उत्तर: अकार के उच्चारण के साथ व्यष्टि जाग्रत अभिमानी विश्व एवं समष्टि अभिमानी विराट् को छोड़कर उकार व्यष्टि स्वप्नाभिमानी तैजस एवं

समष्टि अभिमानी हिरण्यगर्भ के साथ एक हो जाओ । उकार के उच्चारण के साथ तैजस व हिरण्यगर्भ छोड़कर मकार एवं व्यष्टि सुषुप्ति अभिमानी प्राज्ञ तथा समष्टि अभिमानी ईश्वर के साथ एक हो जाओ । मकार के उच्चारण के साथ प्राज्ञ, ईश्वर को छोड़कर मकार ध्वनी समाप्त होने पर ओठ बन्द होते ही शुद्ध ब्रह्म के तत् पद में स्थित हो जाओ । यह 'तत्' पद के चिन्तन की पद्धति है ।

ओम की ध्वनी घंटे पर कि गई चोंटे से उत्पन्न ध्वनी की तरह करना चाहिये ध्वनी धीमे होकर शान्त होती है इसी तरह 'ओ' के उच्चारण कर 'म' की ध्वनी नाकसे निकल शान्त हो जाओ ।

प्रश्न -२२६ : क्या अखण्डाकार वृत्ति बनाये रखने की इच्छा अज्ञान है ?

उत्तर: जब तक तुम कुछ भी चाहोगे, तब तक अविद्या बनी रहेगी । सिद्धियों की इच्छा करना उन्हें प्राप्त करना जैसे तत्त्व ज्ञान में बाधक है, इसी तरह आनन्दाकार वृत्ति बनाये रखना भी अविद्या का कार्य है । आनन्दाकार वृत्ति में राग हो जावेगा । वृत्ति रहेगी अन्त:करण में और अन्तः करण अविद्या का कार्य है । अत: किसी भी प्रकार की कोई एक भी वृत्ति बनाये रखना चाहोगे तो अविद्याकृत बनी रहेगी । जब अन्त:करण बना रहेगा तब तत्त्व ज्ञान कहाँ हुआ ?

यदि अपने को सदा द्रष्टा, साक्षी, अकर्ता, असंग, अभोक्ता, अविनाशी रूप देखते रहोगे तो देखना कहाँ होगा ? अन्त:करण में । चाहे समष्टि सूक्ष्म शरीर के अभिमानी हिरण्यगर्भ को देखो या समष्टि कारण शरीर अभिमानी ईश्वर को देखो । देखना, चाहे व्यष्टि का हो अथवा समष्टि का वह देखना अन्त:करण में ही होगा । यदि अन्त:करण की वृत्ति में राग रहेगा तो अविद्या रहेगी । आनन्दाकार वृत्ति अथवा समाधि से राग होगा

तो तुम राग के भोक्ता हुए असंग नहीं । वृत्ति मात्र से असंग होने में वेदान्त का आग्रह है अपने को सामान्य ज्ञान से पृथक् कुछ भी विशेष रूप से बनाने की चेष्टामत करो ।

प्रश्न-२२७ : मन, बुद्धि को अर्पण करने वाला भक्त मुझे प्रिय है इसे समझावे !

उत्तर : मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मद्भत: स मे प्रिय: गीता १२/१४

मन, बुद्धि को मेरे अर्पण करने वाला भक्त मुझे प्रिय है । अब यहां यह देखना है कि आश्रय रूप भगवान में मन, बुद्धि का अर्पण होगा या विषय रूप भगवान में । मन, बुद्धि की कल्पना में जो भगवान आये हैं उनमें मन, बुद्धि अर्पण नहीं हो सकेगी । क्योंकि सुषुप्ति में मन, बुद्धि उनके कल्पना वाले भगवान के सहित सो जावेगी । अर्थात् वे कल्पना वाले भगवान स्वयं अपने अधिष्ठान आश्रय रूप मन, बुद्धि के समर्पण हो जाएंगे । अत: मन, बुद्धि आश्रय रूप परमात्मा में ही अर्पित होंगे, मन, बुद्धि कल्पित भगवान में मन बुद्धि, अर्पित नहीं होंगे ।

विजातीय वृत्ति रहित प्रत्यय रहित सजातिय वृत्ति प्रवाह रूप निरन्तर आत्माकार वृत्ति ही मन का अर्पण है तथा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय, आदि का विवेक करना ही बुद्धि का समर्पण है ।

प्रश्न -२२८ : ज्ञानी की इच्छाएं क्यों समाप्त हो जाती है ?

उत्तर : अपने अखण्ड, अविनाशी, आनन्द स्वरूप का बोध हो जाने के कारण ज्ञानी को न मरने का भय है न जीने की इच्छा रहती है । ज्ञानी अपने को एक देह में नहीं बल्कि प्रत्येक देह में व्यापक देखता है । परिच्छिन्न देह में ही मरने का भय होता है । ज्ञानी का एक देह में अहं भाव

नहीं रहता । बुभुक्षा (भोग की इच्छा) भी उसे नहीं रहती, क्योंकि सब देह के सब भोग वह इन्द्रिय एवं मन के ही धर्म जानता है इसलिये इन्द्रिय, मन, बुद्धि में उसका अहंभाव नहीं रहता । मुमुक्षुता तो अपने आप ही समाप्त हो जाती है । ज्ञानी यह जानता है कि अपना आत्म स्वरूप नित्य मुक्त है । जब बन्धन ही नहीं तो मोक्ष की कल्पना कैसी ?

परिच्छिन्नता में मैं का भाव लेकर रहना ही जीवत्व है एवं अपरिच्छिन्नता के भाव में स्थित रहना ही ब्रह्मत्व है । जितना दुःख भय, चिन्ता है यह सब एक देह में अहंकार करने से ही है ।

प्रश्न-२२९ : मन के संकल्पों को कैसे रोका जाय ?

उत्तर : साधक प्रायः मन के संकल्पों पर बहुत ध्यान देते हैं और चिन्तित रहते हैं । किन्तु सकंल्प सर्वथा भौतिक वस्तु है और मन भी भौतिक वस्तु है । दवासे जो मूर्छित हो जाता है उसकी भौतिकता में भला क्या सन्देह ? अतएव मन के सकंल्प विकल्प को लेकर ग्लानी करने एवं दुःखी होने की जरूरत नहीं है । जैसे समुद्र मे तरंगे उठती है, आकाश में वायु के झोंके आते हैं, अग्नि से चिन्गारी निकलती है वैसे ही मन को सकंल्प, स्फुरणाएं होते हैं । उनको लेकर दुःखी होना अविवेक है । हम तो मन के सहस्त्र संकल्पों के साक्षी, असंग, निर्विकार, आत्मा है । जब सूक्ष्म शरीर जड़, दृश्य एवं मिथ्या है यह बोध हो गया फिर संकल्प न आवे ऐसा आग्रह करना अविवेक से ही है । मन एक रस कभी नहीं हो सकता ।

जैसे कोई खुले मैदान में, घर की छत पर बैठा आकाश में उड़ते सभी प्रकार के पक्षियों को भिन्न भिन्न दिशा में उड़ते देखता है, नदी के तट पर बैठा पानी को बहता देखता है । नदीं के जल में जो भी बहे वह मात्र देखता है । उसका उड़ने वाले पक्षियों से एवं नदी में बहने वाले जल एवं जरुरी वस्तुओं से कोई सम्बन्ध नहीं है वह तटस्थ है ।

इसी प्रकार जो देह, मन आदि से तटस्थ हो गया है उसे इनकी क्या चिन्ता, कि क्या विचार उठे व क्या न उठे । यह संसार गुण दोष की धारा है । सत्व, रज, तथा तमोगुण के प्रवाह इस में चलते रहते हैं । 'गुणा गुणेषु वर्तन्त'

प्रश्न -२३० : ज्ञानी के लिये क्या कर्तव्य शेष रहता है ।

उत्तर: जो तत्त्वज्ञ है वह समझता है कि मैं कुछ नहीं करता हूँ । अत: मन में समाधि हो या विक्षेप हो, जाग्रत रहे या निद्रा रहे तो मेरा क्या लाभ-हानि ? इन अवस्थाओं से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । प्रयत्न करने से मेरी कोई सिद्धि नहीं शान्त बैठने से मेरी कोई हानि नहीं । किसी अवस्था से न राग है न द्वेष है न कोई आकांक्षा अपेक्षा है । न कुछ करना शेष है, न कुछ पाना शेष है, न कुछ जानना शेष है । कर्तापन नष्ट हो गया तो कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहा । जहां अपना स्वरूप ही यह सब हो गया तब क्या पाना एवं क्या छोड़ना । सकंल्पों के आने जाने से सर्वथा तटस्थ हो जाता है ।

तस्य कार्यं न विद्यते, न किंचिदपि चिन्तयेत'

तत्त्वज्ञ महापुरुषों के लिये जीवन मृत्यु, सृष्टि, प्रलय का कोई अर्थ नहीं है वे इस संसार की गति विधि को समुद्र में उठती लहरों की तरह जानते रहते हैं, उस में जल की कोई हानि नहीं इसी प्रकार तत्त्वज्ञ ज्ञानी को संसार से किसी प्रकार का हर्ष शोक का सम्बन्ध नहीं रहता ।

प्रश्न-२३१ : हृदय कहाँ पर है ?

उत्तर : ब्रह्म सबके हृदय में विद्यमान ''हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'' । 'हृदय सर्वस्य' 'हृदि सन्निविष्टो' । आपको हृदय का स्थान अपनी छाती मालुम है किन्तु आपके शरीर की एक एक रक्त बूंद में हारमोन्स, क्रोमोजम, कीटाणु है उनका हृदय उनके शरीर में है उनके हृदय में ब्रह्म होगा या नहीं ? इसलिए सर्वव्यापी ब्रह्म सर्वत्र समान रूप से विद्यमान है । **'सर्वस्य हृदि**

स्थितम', संर्वस्थ चाहं हृदि सन्निविष्टो

प्रश्न -२३२ : सृष्टि के प्रथम मध्य एवं अन्त में एक प्रणव ही था इसको कैसे जाने ?

उत्तर : तुम विचार करो सबकी प्रतीति के पूर्व तुम थे। सब की प्रतीति के समय तुम हो एवं समस्त प्रतीति के मिट जाने पर तुम रहोगे। क्योंकि तुम न रहोगे तो प्रतीति मिट जाने का साक्षी कौन रहेगा ? अत: प्रतीति के रूप में भी तुम हो। वह ब्रह्म, वह आत्मा, वह ज्ञान, वह चैतन्य वह प्रणव तुम ही हो। यह सिद्धान्त है कि जो आदि व अन्त में है वही मध्य में है एवं जो तीनों कालों में है वह सत्य है उसका कभी अभाव नहीं होता वह आत्मा तुम ही तीनों कालों में स्थित हो। प्रणव के ध्यान या चिन्तन से तत्त्वज्ञान उदय नहीं होगा। प्रणव का अर्थ चिन्तन करना होगा। प्रणव का ध्यान अर्थात् आत्मा में चित्त लगाने का मतलब किसी आकृति या शून्यावस्था में मन को ले जाना नहीं है, बल्कि अपने को देश, काल, वस्तु से अपरिच्छिन्न देखना ही प्रणव का ध्यान करना है। अर्थात् मैं तुरीय शुद्ध, बुद्ध, नित्य, ज्ञानानन्द आत्मा हूँ ऐसा चिन्तन करना ही प्रणव जप या प्रणव का ध्यान है।

चारों वेद कंठस्थ हो किन्तु उसका अर्थ नहीं जानते हों तो उससे क्या लाभ? दूसरों को वेद पढ़ा सकते हैं किन्तु उससे पढ़ने वाले एवं पढ़ाने वाले किसी का उद्धार नहीं हो सकता। इसी प्रकार प्रणव के केवल जप या ध्यान से कुछ नहीं होगा उसके स्वरूप का चिन्तन करना होगा कि वह द्रष्टा, साक्षी, तुरीय, आत्म, ब्रह्म, मैं हूँ।

प्रश्न - २३३ : अज्ञान की दो शक्ति कौन सी हैं एवं उनका क्या कार्य है ?

उत्तर : अज्ञान की आवरण एवं विक्षेप यह दो शक्ति है । आवरण शक्ति का तो आत्मज्ञान होने के समय ही नाश हो जाता है । किन्तु विक्षेप शक्ति आत्म ज्ञान होने के बाद भी देह के प्रारब्ध भोग तक बनी रहती है, इसे लेशाविद्या भी कहते है । प्रारब्ध समाप्त होने से साथ-साथ यह विक्षेप शक्ति भी समाप्त हो जाती है ।

आत्म ज्ञानी का शरीर तीर्थ काशी आदि में अथवा चाण्डाल के घर में त्याग हो जावे अथवा सन्निपात, केन्सर, हार्ट अटैक के कारण ब्रह्मात्म स्मृति, सोऽहम् भाव विस्मरण हो जावे तो भी उसके कैवल्य मोक्ष में किंचित् भी सन्देह नहीं करना । क्योंकि तत्त्ववेत्ता आत्मा ही होता है, आत्मयुक्त होता है, उसी समय से वह मुक्त होता है जिस क्षण उसने आत्मबोध पाया । ज्ञान होने से पहले नित्यमुक्त तो वह है ही किन्तु उसे इसका बोध नहीं था ज्ञान काल में ही जीव मुक्त होता है उसके प्राण अज्ञानी की तरह किसी काल विशेष की अपेक्षा नहीं करते एवं किसी अन्य देश में नहीं जाते ।

यदि प्रारब्ध भोग के समय उसे क्रोध, या 'हाय-हाय' पीड़ा के कारण मुंह से निकले एवं प्राण निकला जाय तो भी उसकी मुक्ति में किंचित् भी सन्देह नहीं करना । क्योंकि शुक्लपक्ष अर्थात आत्म निष्ठावाले का प्राण छूटने पर पुन: जन्म नहीं होता है 'तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना: गीता ८/२४ ।

प्रश्न-२३४ : अविद्या किसे कहते हैं ?

उत्तर : देह संघात् अर्थात, देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के साथ मैं भाव मान लेना ही अविद्या या अज्ञान है । जैसे जलके हिलने से उसमें पड़ता हुआ चन्द्रमा का प्रतिविम्ब भी हिलने लगता है, किन्तु अज्ञानी पुरुष चन्द्रमा को हिलता हुआ मान लेते है । इसी प्रकार कर्तृत्व भोक्तृत्व,

सुखी, दु:खी, पाप, पुण्य, बद्ध, मोक्षादि जो मन के धर्म है उसे आत्मा के मानना ही अविद्या है । जैसे मंद अंधकार में पड़ी रस्सी में सर्प की प्रतीति अथवा मरुस्थल में भ्रम वश जल की प्रतीति होती है इसी प्रकार अज्ञानी पुरुष देह को ही आत्मा मान लेता है ।

आत्मा निरवयव एवं चैतन्य है । देह अनेक अंगों का सावयव तथा जड़ है फिर भी अज्ञानी लोग देह को मैं मान दु:ख को प्राप्त होते हैं ।

जैसे पृथ्वी के घुमने को सुर्योदय, सुर्यास्त देखा जाता है नौका के चलने से तटस्थ वृक्ष, जंगल, पर्वत मकान विपरीत दिशा में, बादलों के मध्य चन्द्रमा विपरीत दिशा में भागता सा प्रतीत होता है इसी तरह मनुष्य आत्मा को शरीर मान लेता है । जिस प्रकार पीलिया के रोगी को श्वेत वस्तुएं भी पीली दिखाई देती है, आकाश में नीलिमा, ठूंठ में मनुष्य, मृग मरीचिका में जल का आभास होता है उसी प्रकार अज्ञानी आत्मा को देह रूप मानता है ।

प्रश्न-२३५ : अकाट्य सिद्धान्त क्या है ?

उत्तर: जैसे पिता के ऋण को पुत्र चुका देता है, सिर का बोझा दुसरे द्वारा दूर किया जा सकता है किन्तु अपनी भूख, अपनी शारीरिक पीड़ा, रोग निवृर्तक औषध स्वयं को ही खाना पड़ती है, इसी प्रकार संसार बन्धन से छुटकारा दिलाने के लिये उसके स्वयं के सिवा कोई दूसरा नहीं हो सकता ।

अन्धकार का नाश प्रकाश के बिना किसी अन्य साधन से दूर नहीं हो सकता इसी प्रकार ज्ञान ही मुक्ति का एक मात्र अन्तिम उपाय है ।

सर्वोच्च दिव्य ब्रह्मज्ञान से जो व्यक्ति विमुख है उनका जीवन व्यर्थ है, वे मनुष्य होते हुए पशुवत् जीवन व्यतीत कर रहे है 'ज्ञानेन हीना पशु : समाना' वे घोर नरक को प्राप्त होगें ।

मुक्ति के लिए चाहे कोई तीर्थयात्रा करे, गगां सागर जाए, व्रत या दान कर पुण्य प्राप्त करे, शास्त्र पढ़े, प्रवचन करे , देवपूजा करे, किन्तु आत्म ज्ञान् के बिना मुक्ति नहीं हो सकती ।

प्राण रहते तब तक मनुष्य धनोपार्जन कर घर परिवार, जाति, बन्धु, मित्रों की सहायता करता है तभी तक सभी लोग उससे प्रेम का अभिनय करते हैं । धन न होने पर प्राण निकल जाने पर कोई उसे पूछता, देखता भी नहीं है ।

ब्रह्मसत्य है, जगत् मिथ्या है, यह जीव ब्रह्म ही है ।

यदि षड्शास्त्र, चारों वेद पढ़लिये हों किन्तु किसी भी एक व्यक्ति से वैर भाव है तो वह अखण्ड परमात्मा को कभी प्राप्त नहीं कर सकेगा इसके लिये और वह जन्म-मरण रूप बन्धन से कभी मुक्त नहीं हो सकता ।

आत्मा यहां, अभी और तुम्हारे रूप में है अन्यथा कहीं नहीं, कभी नहीं, कोई नहीं है । क्योंकि आत्मा उस अखण्ड सत्ता का नाम है जो सब देश में, सब काल में, सब रूप में विद्यमान है । आत्म ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो किसी एक देश, एक काल तथा एक रूप में हो ।

जिसकी प्राप्ति के बाद फिर अन्य कोई वस्तु प्राप्त करने को नहीं रह जाती, जिसके आनन्द के बाद फिर किसी अन्य आनन्द की कामना नहीं रहती और जिसके ज्ञान के बाद फिर कुछ भी जानने को बाकी नहीं रहता उसको ही ब्रह्म जानो ।

ईन चर्म चक्षुओं से कोई भी परमात्मा के अविनाशी सत्य स्वरूप का दर्शन नहीं कर सकेगा ।

प्रश्न-२३६ : ब्रह्मनुभूति किस प्रकार हो सकेगी ?

उत्तर : जो कुछ हम देखते हैं, जो कुछ सुनते हैं, वह ब्रह्म ही है, अन्य

कुछ नहीं है । जैसे घट, दीपक, ईंट, खप्पर, दुर्गा, गणेश, सरस्वती, सुराही, मिट्टी का कार्य होने से मिट्टी से भिन्न नहीं है । क्योंकि कार्य की कारण से सदा अभिन्नता रहती है । जैसे स्वर्ण-अलंकार, कपड़ा-सुत्र, लोह-मशिन, काष्ठ-फनीर्चिर, इसी तरह जगत् का जगदीश उपादान कारण होने से यहाँ एक ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं है । ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान हो जाता है ।

जिस प्रकार नमक का ढेला जल में घुल जाने पर फिर नेत्रों से नहीं दिखाई देता किन्तु जिह्वा द्वारा चख अनुभव किया जा सकता है, उसी प्रकार हृदय के अन्तर में प्रवाहित नित्य ब्रह्म इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता, केवल श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से निकले 'तत्त्वमसि' वह ब्रह्म तू है इस अनुग्रह पूर्ण वाणी द्वारा ही अनुभव रूप से, मैं ब्रह्म हूँ रूप से जाना जाता है ।

जिस प्रकार अन्न को पकाने का प्रत्यक्ष कारण अग्नि है, सन्तान उत्पत्ति में वीर्य बिन्दु का रज से मिलन प्रत्यक्ष कारण है, इसी प्रकार ज्ञान ही मुक्ति का प्रत्यक्ष कारण है । अन्य कोई साधन मुक्ति या ब्रह्मानुभूति कराने में समर्थ नहीं है । आत्म ज्ञान से तत्क्षण, तत्काल और यहीं आत्मानुभूति होती है ।

आत्मा पर आरोपित देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि उपाधियों का विनाश केवल ज्ञान से ही होता है अन्य किसी उपाय द्वारा मिथ्या भ्रम व अंहकार नहीं जाता ।

प्रश्न-२३७: सत्य को कैसे व कहां खोजे ?

उत्तर : प्रेम को न खोजकर जो परमात्मा को खोजता है वह परमात्मा से दूर ही हो जाता है । परमात्मा प्रेम है । प्रेम बाहर से नहीं मिलता वह भीतर

ही अनुभव में आता है । परमात्मा क्या बाहर है कि उसके दर्शन कर लेंगे या खोज लेंगे । मृग की नाभि में जो कस्तुरी विद्यमान रहती है वह मृग के खोजने से पूर्व उसके साथ ही है । मृग जहाँ भी जाता है उसे साथ ही लिये जाता है । इसी प्रकार परमात्मा की खोज बाहर करना पूर्ण निरर्थक है । परमात्मा हमारा स्वरूप है इसलिए उसका बाहर मिलना असम्भव है ।

भक्तों को जो भी बाहर या ध्यान में दर्शन हुए हैं, या होते हैं, वह उन-उन भक्तों को अपनी कल्पना के ही दर्शन होते हैं और इन कल्पनाओं में खो जाने वाला व्यक्ति सत्य से भटक जाता है । इस शरीर में जो सब को देख रहा है, जान रहा है उसे ही तुम नहीं खोज पाये, नहीं जान पाये तब इस विराट् संसार में उसे कैसे खोज सकोगे ? परमात्मा को मत खोजो, स्वयं को जान लो, क्योंकि स्वयं के अलावा कोई अन्य परमात्मा नहीं है । आत्मानुसंधान के अतिरिक्त अन्य कोई परमात्मा की खोज नहीं हो सकती ।

सभी कहते हैं स्वयं को जानो, परमात्मा को जानो, लेकिन ज्ञान, जानना, दर्शन दो के बिना हो नहीं सकते । जो जाना जायगा वह स्वयं कैसे हो सकेगा ? वह तो पर ही होगा । 'स्व' तो वह है जो सब को जानता, देखता है । स्व अनिवार्य रूप से ज्ञाता है । ज्ञाता को किसी भी उपाय से ज्ञेय नहीं बना सकेंगे । द्रष्टा को किसी भी उपाय से दृश्य नहीं बना सकेंगे तो फिर उसका स्वयं का ज्ञान कैसे होगा ? ज्ञान तो ज्ञेय का ही होगा । ज्ञाता का ज्ञान कैसे होगा । आंख से आंख को देखने की तरह यह कार्य नहीं होगा । मैं सब को जान सकता हूँ किन्तु उसी तरह मैं अपने को कभी नहीं जान सकता हूँ । पदार्थ ज्ञान में ज्ञाता है और ज्ञेय है आत्म ज्ञान में न ज्ञेय है न ज्ञाता है । वह मात्र शुद्ध ज्ञान है । जो जानने में आता है वह संसार पदार्थ है । जो सबको जानता है, सबका जो ज्ञाता है वही असंसारी वस्तु आत्मा

है। वह जो शेष रह जाता है, वही वह है, वही तुम हो, तत्त्वमसि जिसे तुम सदियों से मृग कस्तूरी की खोज की तरह खोज रहे थे।

आत्मा की खोज की यही विधि है कि मैं तो हूँ ही। मेरा होना कभी सन्देहात्मक नहीं हर अवस्था में मैं हूँ तभी तो प्रत्येक क्रिया, भाव, विचारों को जानता हूँ दूसरी बात मैं ज्ञान स्वरूप हूँ। मेरा जानना नित्य है वस्तु विचार के विषय, दृश्य बदल जाते हैं किन्तु मेरा ज्ञान एक रस रहता है। जानने को कुछ न रहे तब जो है स्वयं है वह प्रकट हो जाता है और वह शून्यता का प्रकाशक ही आत्मा है। यह विषय नहीं जिसे खोजा जा सके यह स्वयं खोजने वाला है और यही तुम हो।

जिसे हम खोजने जा रहे हैं वह सदा से हमारे साथ है। खोजने से पूर्व वह है। खोजने के बाद प्रकट होगा ऐसा नहीं। सत्य निर्मित नहीं होता पानी की तरह वह पहले से है केवल मिट्टी, पत्थर की परतों को हटाना पड़ता है। हम जब नहीं जानते थे तब भी था, हम जब नहीं रहेंगे तब भी रहेगा। खोज से हमारे अनुभव में प्रकट हो जाता है।

प्रश्न-२३८ : ज्ञान होने के बाद क्या प्राप्त होता है ?

उत्तर: ज्ञान होने के बाद पाया तो कुछ नहीं जाता बल्कि खोया सब कुछ जाता है। सब भांति की दौड़ धन की चाह, सन्तान की चाह, मान की चाह, वासना खोई, विचार खोये। और पाया तो वही जो सदा से था, पाया हुआ ही था। मैं जिसे नहीं खो सकता वही तो है स्वरूप, वही तो है परमात्मा। सत्य वही जो सनातन है जो कभी खोता नहीं।

प्रश्न-२३९: दिगम्बर होना क्या है ?

उत्तर : जैन धर्मावलम्बी मुनियों की तरह यह वस्त्रों का उतारना दिगम्बर होना नहीं हैं। पशु तो सभी निर्वस्त्र हैं, पक्षी भी निर्वस्त्र है। कई पागल,

बच्चे निर्वस्त्र दिखाई पड़ते है । स्त्री-पुरुष निर्वस्त्र हो जाते हैं, आप्रेशन के समय निर्वस्त्र हो जाते हैं । जगंली मानव जाति पूर्ण दिगम्बर पाये जाते हैं । दिगम्बर का अर्थ है यह वस्त्र ही नहीं बल्कि इस चमड़ी को देह भाव को ही छोड़ना है । यही तप है, पंच्चाग्नि तपना तो मूढ़ता है । आत्मा को पाने के लिये समस्त आवरण चीर देना जरूरी है । पंचकोषों के आवरण से मुक्त कर लेना है । समस्त आवरणों के पार जो पंच कोशातीत है जो निर्वस्त्र है वहीं रुकना है । वही मेरी आत्मा है वही मैं हूँ । जो संग्रह और त्याग, विचारों के भाव-अभाव के पीछे बैठा है जो साक्षी है, वही दिगम्बर ज्ञान स्वरूप आत्म तुम हो । कच्चे धागों से बने वस्त्र उतार कर भी लोग वही देह भाव में जुड़े रहते हैं ।

शास्त्रों और परम्पराओं के बोझ के कारण हम नग्न सत्य को नहीं जान पा रहे हैं हमारा मन पंगु हो गया है । हम तोतों की तरह रटे हुए सूत्रों को ही स्नान के बाद प्रति दिन बैठ कर दोहराते जारहे हैं । जो स्वयं को नहीं जानता वह शब्द को जानने वाला शास्त्रों को जानने वाला, सत्य को कभी नहीं जान सकता । शरीर से भिन्न जिसने स्वयं को नहीं जाना वह कहने मात्र को जीवित है । जन्म से पूर्व और मृत्यु के बाद जिसने अपने दिगम्बर, निराकार अपने होने को नहीं जाना वह पशु ही है । सत्य पाने के लिये स्वयं में प्रतिष्ठित होने केलिये सब अहंकार, अध्यास रूप वस्त्रों को छोड़ नग्न हो जाना आवश्यक है ।

प्रश्न-२४०: आनन्द किसे कहते हैं ?

उत्तर: आनन्द कोई बाह्य वस्तु नहीं है जिसे किसी इन्द्रिय एवं विषय द्वारा प्राप्त किया जा सके । अपना स्वरूप ही आनन्द है । आत्मा का आनन्द से कोई सम्बन्ध नहीं है । सम्बन्ध अन्य से हुआ करता है । आनन्द

आत्मा का गुण नहीं है, क्योंकि गुण कभी होता है कभी नहीं होता है । सत्ता की दृष्टि से जो आत्मा कहलाती है अनुभूति की दृष्टि से वही आनन्द है । आनन्द उसे कभी न समझ लेना जिसे लोग स्त्री-पुरुष के मिलन से, धन, वस्त्र, पद, अलंकार, सन्तान, की प्राप्ति से मानते है ।

आनन्द वह है जिसके अनुभव होने पर आनन्द की समस्त खोज समाप्त हो जाती है । हम सुख को आनन्द समझ लेते हैं जबकि सुख आनन्द का अध्यास है । छाया मात्र है । जैसे अपना मूल के विपरीत दिशा में प्रतिबिम्ब जल में या दर्पण में दिखाई पड़ता है , इसी प्रकार अपने आनन्द स्वरूप को प्रतिबिम्ब सुख विषयों में भास जाता है । इसलिए सुख बाहर विषय पदार्थों में मालूम पड़ता है । सुख वह है जो एक दिन दुःख में बदल जाये । आनन्द सदा एकरस रहता है ।

प्रश्न -२४१: काम से कैसे मुक्ति प्राप्त की जा सकती है ?

उत्तर : काम से जिसे मुक्ति लेना हो उसे प्रेम विकसित करना चाहिये । काम के दमन से कोई काम से मुक्ति नहीं पा सकता, उससे मुक्ति तो प्रेम में ही है । प्रेम का अभाव सब से बड़ी दरिद्रता है । जो किसी से प्रेम करना नहीं जानता वह प्रभु को प्राप्त नहीं कर सकता । प्रेम ही प्रभु है । प्रेम में 'स्व' और 'पर' का अभाव हो जाता है । जो स्वयं के और सर्व प्राणियों के भीतर परमात्मा को अनुभव कर लेते हैं । यदि किसी से प्रेम है तो उसे शुद्ध कर परमात्मा की ओर लगाया जा सकता है, किन्तु जिसमें केवल स्वार्थ, क्रोध, हिंसा, लोभ भरा है जो किसी से प्रेम करना नहीं जानता वह प्रभु से भी प्रेम नहीं कर सकता ।

प्रश्न-२४२: मन को शान्त कैसे करें ?

उत्तर : मन को चुप करने का एक ही मार्ग है साक्षी भाव में बैठ जावें वह

शान्त हो जावेगा। अभी यह रात है, चांद का प्रकाश है, लोक सड़कों से आ जा रहे हैं, पक्षी शान्त वृक्षों पर बैठे हैं, हम केवल देखते रहें जो हो रहा है। मोटर गुजरेगी, बच्चा रोयगा, शोर करेगा मैं देखते रहूँगा, सुनता रहूंगा, मैं दर्शक बना देखता रहूँ। जैसे नदी के तट पर पानी को देखते रहते हैं। आकाश में बादलों को जाते देखते रहते हैं। सिनेमा को चलते देखते रहते हैं। उड़ते पक्षियों की कतार देखें। मैं अपनी तरफ से कुछ नहीं करूँ बस देखता रहूँगा। चारों तरह कुछ होगा, हवा पत्तों को हिलायेंगी कोई कुता भौकने लगेगा। मैं कुछ न कहूँगा मैं केवल मौन सुनता रहूँगा, देखता रहूँगा। एक दस मिनिट इस प्रयोग को करें शरीर को ढ़ीला करके आराम से बैठ जावें शान्ति छलक जायगी। मन न पूजा करने से शान्त होगा न तीर्थ यात्रा करने से। न वेद, पुराण, कुरान उपनिषद पढ़ने से न रामायण, गीता, ग्रन्थ पाठ करने से। न माला फेरने से न राम-राम लिखने से, न गायत्री जाप से। सत्य को वे ही जान पाते जो साक्षी भाव को प्राप्त हुए है।

मन में जो प्रकट होता है उसे होने दें, उस विचार को अच्छा हो या बुरा रोके नहीं, देखते रहें। मन को मुक्त कर ही मुक्त हो सकेंगे। मन में क्या आवे और क्या न आवे किसी प्रकार का आग्रह न करें। मैं केवल सुनने वाला, देखने वाला हूँ।

मन को देखने से डरे नहीं चाहे जितने बूरे, गन्दे खतरनाक विचार ही क्यों न हो विचारों को रोकने से वे कभी रूकेंगे नहीं। मन की ताकत को यदि मन के विचार देखने में लगा दिया तो विचार करने को ताकत नहीं मिलेगी। क्योंकि मन एक समय में एक ही विचार कर सकता है। एक छोटी चिड़िया, मच्छर की आवाज को भी सुने, उड़ने वाली तितली को चीटियों की दौड़ को भी देखें कुछ भी बिना देखा बिना सुना न जाय तब आप मन को गहरी शान्ति में पावेंगे। शरीर शिथिल हो अकड़ कर न बैठें

।

क्रोध आवे तो आप उसे दबावे नहीं उसे देखें कि यह कहां से आ रहा है, क्यों आ रहा है धीरे-धीरे क्रोध शान्त हो जायागा क्योंकि क्रोध की शक्ति अब देखने में लग गई, दिशा बदल गई शक्ति तो एक ही है चाहे जिस ओर लगा दे । काम, क्रोध से सीधे न लड़े । आप उसे हराने हेतु उस शक्ति की दिशा बदल दें । क्रोध में लड़ने की शक्ति आपकी ही है आप अपने को ही तोड़ रहे हैं ।

बुराई व भलाई एक सिक्के के दो पहलु है । जहाँ अच्छाई है उसी समय उसी के पीछे बुराई खड़ी है । जहां बुराई है वही दूसरे तरफ अच्छाई है । एक साथ दोनों पहलु नहीं देखे जा सकते । जब एक दिखता है तब दूसरा ओझल रहता है किन्तु होता वहीं । दमन नहीं दर्शन करें तो आप मालिक बन जायंगे, काम, क्रोध उत्पन्न ही नहीं होंगे । जिसके कारण क्रोध, काम, जगे उसे धन्यवाद दीजिये क्योंकि आपको उसने अपने द्रष्टा साक्षी, आत्मभाव देखने का सोभाग्य दिया है और आप उसे श्रद्धा से देखिये यह तुरन्त भाग जायेंगे ।

प्रश्न-२४३ : परमात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर: परमात्मा अस्तित्त्व को कहते हैं । परमात्मा अखण्ड सत्ता है उसका अभाव या नाश नहीं होता । अस्तित्त्व जो है । 'है' पने से किसी वस्तु को बाहर नहीं कर सकते । वृक्षको काट दे तो वृक्ष है के स्थान पर लकड़ी है । लकड़ी को जला दें तो कोयला है । कोयला जला दें तो राख है राख को पानी में बहादे या उड़ जावे तो पुन: मिट्टी है । परमात्मा का मतलब अणु-अणु के भी भीतर जो 'है' रूप से विद्यमान है । कितनी ही चीजे बने व मिटे उसमें से परमात्मा के अस्तितत्त्व को निकाल नहीं सकेंगे वह 'है' रूप में अवश्य रहेगा । और यह 'है' पना ही ब्रह्म की सत्यता है ।

प्रश्न -२४४: अशान्ति को कैसे दूर किया जा सकता है ?

उत्तर : व्यक्ति अहंकार को छोड़ दे तो अशान्ति स्वयं दूर हो जावेगी । मैं कुछ कर सकता हूँ, यह अहंकार ही अशान्ति को उत्पन्न करता है । अशान्ति होने पर यही सोचो कि मेरे हाथ में कुछ नहीं है । यह स्वयं बिना बुलाये आई है, बिना चाहे चली जाएगी । इसका आना जाना मेरे आधीन नहीं है । यदि मैं इसका मालिक होता तो यह मेरे बिना पूछे मन में प्रवेश नहीं कर पाती । किन्तु यह चोर की तरह बिना पूछे प्रवेश कर गई है । तो मेरे कहे बिना चली भी जावेगी । बस तुम पाओग शान्ति पीछे से स्वयं चली आएगी । वह शान्ति भी मेरे हाथ में नहीं है, उसका भी आना-जाना स्वतन्त्र है । यदि शान्ति को थोड़ा भी रोकना चाहोगे तो अशान्ति पीछे से आने लगेगी । अत: तटस्थ हो जाओ, द्रष्टा हो जाओ । साक्षी भाव ही शान्त होने का सरल उपाय है । यदि तुमने कुछ होना चाहा तो अशान्त ही रहोगे ।

प्रश्न-२४५: जीते जी मृत्यु कैसे हो सकती है ?

उत्तर : यदि कोई गाली दे, अपमान करे, निंदा करे, चोंट करे, शरीर को पीट दे, ठोकर मार दे तो समझना मैं मर चुका हूँ । श्मशान में मरा पड़ा हूँ, कब्र में गड़ा हूँ तो किसी के किसी भी प्रकार के व्यवहार का मैं कैसे उत्तर दूं ? कोई मृतक की कब्र पर थूके या मल त्याग कर दे तो कब्र में गड़ा व्यक्ति कैसे उत्तर दे सकेगा । इस प्रकार की जीवित अवस्था में साधना कर लेना तो अमृत की प्राप्ति हो ही जावेगी । आप जब मर चुके होंगे तब आपकी हड्डी को कुत्ते चबावेंगे । खोपड़ी को कोई लात मार रहा होगा तब आप क्या करेंगे ? वैस ही जीवित अवस्था में अपने देह के प्रति प्रतिकूल व्यवहार होने पर सोचलेना तो फिर आप गाली सुनेंगे नीच व्यवहार सहेंगे । जानेंगे कि मैं हूँ किन्तु उत्तर नहीं देंगे । आप जानते रहेंगे कि बस 'हूँ' तो

अमृत का द्वार खुल गया ।

असल में हमने अनजाने में देह को, मन को अपना होना जान लिया है, मान लिया है कि मैं मन हूँ, मैं देह हूँ और देह की स्थति मेरी स्थिति है, मन की स्तिति मेरी स्थिति है । इस भ्रान्त धारणा के कारण अनेको भय, दु:ख, चिंता को हम अपना लेते हैं । आप तो वह है जो तन एवं मन की हर अवस्था को जानने वाला द्रष्टा, साक्षी, आत्मा हैं ।

प्रश्न-२४६: अपरा तथा परा क्या है ?

त्रत्तर: आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, तथा मन, बुद्धि, अंहकार यह आठ प्रकार की प्रकृति को अपरा कहते हैं । इन आठ के परे जो है वह साक्षी परमात्मा परा है । जो अपरा को आधार देती है । जो चैतन्य है । मन, बुद्धि, अहंकार व पंच भूत सब जड़ है ।

परा इन अष्ट प्रकृति का प्रकाशक है इनसे पृथक् एवं परे है । मैं अपने शरीर का साक्षी हूँ । मैं हाथ का द्रष्टा हूँ कि यह मेरा हाथ है । यह काट दिया जाय टूट जाय तो मैं इसके पीड़ा को कटने को देख सकता हूँ । मेरे जानने में, ज्ञान में कोई अधुरा पन नहीं होगा मेरे आस्तित्त्व में फिर भी कोई अधुरा पन नहीं होगा । मैं उतना का उतना ही रहूँगा । इन्द्रियों के कट जाने से शरीर के कार्यों में कमी पड़ती चली जावेगी किन्तु उन सबके अनुभव करने वाले मुझ परा, साक्षी में कोई कमी नहीं होती । आंख न खुले या फूट जावे तो बाहर का ज्ञान नहीं रहेगा किन्तु अन्दर मेरे जानने में, ज्ञान में कोई अभाव नहीं होगा क्योंकि मैं इस अपरा से परे असंग परा शक्ति हूँ । जो भी दृश्य है वह द्रष्टा से पृथक है । मन, बुद्धि, अहंकार में परिर्वतन होता है आप उसे जानते हैं ।

जिस दिन आप अहंकार को देख पावेंगे कि यह अहंकार मेरे में

प्रकट हो रहा है उस दिन आपकी मन्जिल पूर्ण हो जावेगी । परा में प्रवेश कर पावेंगे । अपरा से आपकी छलांग लग जायेगी, परीधि से केन्द्र में पहुंच जावेंगे । वही आपकी आत्मा है वही परमात्मा है वही आप है । उसी चेतना ने इन आठों अपरा प्रकृति को धारण किया हुआ है । अपरा प्रकट है वृक्ष की तरह और परा अप्रकट है बीज की तरह । जो नहीं दिखाई पड़ता है उसी पर आधारित है जो बाहर वृक्ष दिखाई पड़ता है ।

जो प्रकट मूर्तियों में उलझा है वह इस अदृश्य की खोज पर नहीं निकल सकेगा । इन्द्रियों की पकड़ में माला के मणके ही आते है अप्रकट सूत्र नहीं आता । वह जो अमूर्त परा आत्मा है वह हर प्रकट मूर्ति में है किन्तु वह दिखाई नहीं देता है

प्रश्न -२४७ : क्या परा-अपरा, जड़-चेतन, द्रष्टा-दृश्य दो सत्ताएं है ?

उत्तर : सत्य एक है लेकिन जिन्हें पूरा सत्य दिखायी पड़ता है वही यह घोषणा कर सकता है । जिन्हें नहीं दिखाई पड़ता है, उन अन्धों के लिये एक नहीं है । अज्ञानी अन्धे के समान है, उन्हें अपरा प्रकृति तो दिखाई पड़ती है किन्तु परा को वे नहीं जानते ।

कृष्ण कहते है सृजन एवं विनाश, जन्म एवं मृत्यु, विष एवं अमृत अच्छाई तथा बुराई, प्रकाश व अन्धकार अच्छा व बुरा, प्रकाश व अन्धकार, देवता व राक्षस, द्रष्टा व दृश्य पृथक् पृथक् हो तो फिर परमात्मा की पूर्णता अखण्डता खण्डित हो जायेगी । सत्य तो अखण्ड है पूर्ण है अविभाज्य है किन्तु अज्ञानी को प्रथम समझाने हेतु द्रष्टा-दृश्य, जड़-चेतन, स्वयं प्रकाश, पर प्रकाश्य का भेद ज्ञान कराना पड़ता है । पूर्ण बोध हो जाने पर तो जड़ व वृक्ष एक है । दिन व रात में कोई रेखा नहीं खंची जा सकती फिर विभाजन मिट जाता है । समस्त प्रक्रियांए पूर्ण का बोध

कराने, मन्जिल पर पहुंचाने, एकत्व का बोध कराने के लिये हैं ।

प्रश्न-२४८ : क्या गीता, रामायण, ग्रन्थ, कुरान,पढ़ना धार्मिकता नहीं है ?

उत्तर: शास्त्र को पढ़ लेना समझ लेना तथा कंठस्थ कर दूसरे को समझाने के लिये उपयोगी हो सकती है किन्तु उससे हमें कोई ज्ञान उपलब्ध नहीं होता । आत्मा, परमात्मा, सत्य स्वयं में है स्वयं से ही जाना जाता है । दूसरे के विचारों का संग्रह हमारे ज्ञान का लक्षण नहीं है । शेर की खाल पहन लेने से गीदड़ शेर नहीं हो सकता, सोलह श्रृंगार युक्त वैश्या सती नारी नहीं कहला सकेगी । इसी प्रकार दूसरे ज्ञानियों के वचन, गीता, भागवात, के श्लोक रटकर बोलने से या भागवत कथा, गीता अध्याय, रामायण दोहा चौपाई के अर्थ को पढ़कर अपने को ज्ञानी मान लेना यह तो कांटे पर मिट्टी डाल छिपा लेना है किन्तु चलने पर कांटे अवश्य चुभेंगे ।

जिस ज्ञानी को विवेक शक्ति जाग्रत हो जाती है वह विचार के संग्रह से मुक्त हो जाता है । वह अपने मन को मधु मक्खियों का छता नहीं बनाता । मधु मक्खि बाहर के पुष्पों से रस चुरा चुराकर अपने छते में जमाकर यह अहंकार करने लगजाती कि यह मधु शहद मेरा है । अज्ञानी का मन मधु मक्खियों का भिन-भिनाता छत्ता है ।

दूसरे के विचारों का संग्रह उसी प्रकार व्यर्थ होगा जो कोई तैरने की कला पर शास्त्र लिखे एवं स्वयं तैरना न जाने और उसे कोई पानी में धक्का दे देवे तो पता लग जावेगा कि वह कितना तैरना जानता है । पाक शास्त्र की पुस्तक रट लेने से पेट की भूख नहीं जा सकेगी जैसी की एक रोटी खाने से दूर हो सकती है ।

पंडित, कथाकार, साधु से पूछा जाय कि जो कथा आप सुनाते हैं,

जिस भगवान के धाम की लीला का गुणगान प्रेम विभोर होकर या आर्त आवाज में पुकारने का अभिनय कर भोले श्रोताओं की श्रद्धा को अपनी तरफ खींचते है क्या आपने भी उस भगवान को जाना है आप भी क्या वहाँ गये हैं या उदर पूर्ति परिवार पालन का साधन बनाया है ।

सत्य बात तो यह है कि हम जिस बात को नहीं जानते हैं उसको बड़ा चढ़ा कर न कहें । उतना ही कहें जितना हम जानते हैं । जहाँ नहीं पहुंचे हैं वहाँ की बात उच्च स्वर में, रोकर या आनन्द विभोर होकर कहने का अभिनय न करें । भोले लोगों को गुमराह न करे । जब तक स्वयं न जान ले तब तक उसे न कहें ।

जो लोग विश्वास कर लेते हैं वे विवेक तक नहीं पहुंच सकेंगे । उनकी प्रगति रुक गई । वे मान लेते है कि गीता, रामायण, बाइबिल, कुरान कह रहे हैं तो ठीक ही होगा । जब तक स्वयं न जाने न गीता पर विश्वास कर चुप बैठ जाओ या किसी संत की बात सुनकर चुप बैठ जाओं ।

ज्ञान आता है स्वयं के भीतर से कुएं की तरह जिसका गहरे में समुद्र से सम्बन्ध जुड़ा रहता है । विचार आते हैं दूसरों से बाहर से । जिनमें विवेक शक्ति जाग्रत हो गई है वे कुंए की तरह है और जो विचार संग्रह कर रहे है वे हौद की तरह हैं । कुएं कहते हैं भर ले जाओ जितना चाहो किन्तु हौद कहता है तुम्हारे पास है तो मुझे भर दो । विचार बांधता है ज्ञान मुक्तता देता है । विचार संग्रह करना झूठन को इकट्ठा करना है एवं वमन करने की तरह दूसरों को रटकर सुना दिया जाता है उसमें उस विचार संग्रह कर्ता का कोई भी अनुभव नहीं है । वह तो कढ़ाई एवं कड़छुल की तरह पकवान के स्वाद से वंचित ही बना रहता है ।

समस्त झगड़े इन हिन्दु, मुस्लिम, जैन, बौद्ध, इसाई की हौद के हैं

पण्डितों के झगड़े है, ज्ञानियों में कभी भेद दृष्टि नहीं होती है । ज्ञानियों के लिये सब एक मनुष्य है, न कोई हिन्दु है न मुसलमान है । न हमारा धर्म है न तुम्हारा धर्म है । न हमारा भगवान है न तुम्हारा भगवान है । ज्ञानी किसी जाति, सम्प्रदाय, देश का नहीं होता । लेकिन पण्डित बिना सम्प्रदाय के होना सम्भव नहीं है ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्य ति –गीता ६/३०

परमात्मा कहते हैं जो ज्ञानी मेरे व अपने में परमात्मा व आत्मा में किंचित् भी फासला नहीं रखते हैं उनसे मैं कभी छुपा नहीं रहता हूँ और वे ज्ञानी जन भी मुझ से छिपे नहीं रहते हैं, बल्कि वे ज्ञानी मेरी आत्मा ही है । पृथ्वी पर जो मेरे तत्त्व को जिज्ञासुओं को निष्काम भाव, श्रद्धा व प्रेम सहित समझाने में लगे हैं उनसे अधिक मेरा प्रिय पृथ्वी पर अन्य कोई नहीं है । **न च तस्मान्मनेष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः** । भगवान श्रीकृष्ण गीता १८/६९ में कहते हैं-**भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥**

प्रश्न -२४९: आत्मा का निषेध मुख से प्रतिपादन कैसे किया जाता है ?

उत्तर : जैसे झूठ मत बोलो, चोरी मत करों, हत्या मत करो, निन्दा मत करो, आलस्य मत करो, गन्दा मत करो, बुरा मत सोचो आदि व्यावाहारिक बाते निषेध मुख से कही जाती है । इसी प्रकार 'अहम्' पद का अनादि, अखण्ड, अविनाशी, अप्रमेय, असंग, अमृत, अभय, अद्वय, अनन्त, अक्षर, अजन्मा, अगोचर, अलक्षण, अगुण, अच्नित्य, अग्राह्य, अव्यवहार्य आदि निषेध मुख से नरूपण किया जाता है । वेद नेती-नेती कह कर परमात्मा के स्वरूप बताया है । यह निषेध मुख से कथन है ।

जैसे घट का देखने वाला जड़ एवं दृश्य घट से पृथक् होता है ।

घट का द्रष्टा तीन काल में भी घट नहीं हो सकता वैसे ही देह का जानने वाला साक्षी, देह द्रष्टा देह से भिन्न है । देह द्रष्टा किसी काल में भी देह नहीं हो सकता । 'यह मेरा गृह है' ऐसा कहने वाला गृह से भिन्न होता है । इसी तरह यह मेरा देह है कहने वाला देह से पृथक् है । मैं कभी भी देह नहीं हो सकता । ऐसे निश्चय पूर्वक जानना चाहिये ।

इसी प्रकार मैं इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि का भी जानने वाला, देखने वाला ज्ञाता, द्रष्टा हूँ इसलिये मैं आत्मा इन्द्रिय, प्राण, मन बुद्धि नहीं हूँ । यह निषेध रूप स्वरूप का वर्णन किया जाता है ।

मैं कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण, यह पांच ज्ञानेन्द्रिय एवं इनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धा का द्रष्टा हूँ अर्थात् जानने वाला साक्षी आत्मा हूँ ।

वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ (लिंग, जनेन्द्रिय) और गुदा यह पांच कर्मेन्द्रिय का एवं इनके क्रमशः बोलना, ग्रहण-त्याग, गमन, मुत्र-त्याग, मैथुन तथा मल त्याग धर्मों का द्रष्टा हूँ । अतः इन्द्रियों का द्रष्टा होने से मैं आत्मा इन्द्रियँ नहीं हूँ ।

इसी प्रकार में अन्तःकरण की मननात्मक वृत्ति मन, निश्चयात्मक वृत्ति बुद्धि, और पंच प्राण भी नहीं हूँ । क्योंकि मैं इन समस्त स्थूल, सूक्ष्म, कारण देह संघात् एवं समस्त के कारण भूत अज्ञान (अविद्या) का द्रष्टा हूँ । द्रष्टा कभी दृश्य नहीं होता । द्रष्टा सदा दृश्य से भिन्न स्वभाव वाला होता है ।

प्रश्न-२५०: आत्मा का विधि मुख से वर्णन किस प्रकार होता है ?

उत्तर : जैसे सचबोलें, मधुर बोलो , दया करो, इमानदार बनो, स्फूर्ति रखो, आशा रखो, सफाई रखो बाते विधि मुख से कही जाती है । इसी

प्रकार द्रष्टा, साक्षी, चैतन्य, सत, आनन्द, ज्ञान, स्वयंप्रकाश, व्यापक, परमब्रह्म, सर्वाधिष्ठान, स्वयंभू. साक्षात्, स्रष्टा, कृपालु, करुणा सागर आदि आत्मा का विधि मुख से वर्णन किया जाता है ।

कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण, वाणी, हाथ, पैर, लिंग, गुदा, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण, उदान, समान, व्यान यह समस्त देह संघात् जिस से शक्ति पाकर अपने कार्यों को करते हैं और जो इन सबका प्रेरक, ज्ञाता, द्रष्टा, साक्षी है वही मैं आत्मा हूँ । सोऽहमित्यवधारय' इस प्रकार निश्चय से जानना चाहिये ।

जिसकी समीपता से मन बुद्धि, प्राण जड़ होते हुए भी चेतन से भासते हैं, वही आत्मा मैं हूँ । इस प्रकार निष्ठा से जानना चाहिये । जो अन्त:करण की समस्त वृत्तियों को जानता है वह साक्षी आत्मा मैं हूँ । जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था के भाव अभाव को एवं बुद्धि की वृत्तियों का जानता है वही निर्विकार साक्षी आत्मा मैं हूँ । यह सब विधि मुख से आत्मा का वर्णन कहा जाता है ।

प्रश्न-२५१ : ब्रह्म में सृष्टि का आरोपण के बाद अपवाद किस प्रकार किया जाता है ?

उत्तर: आरोपण एवं अपवाद का प्रयोजन ब्रह्म के विशेष स्वरूप का अन्वेषण है । पचं कोशों का विवेचन करके 'नेति-नेति' वाक्य द्वारा अन्नमय कोश आत्मा नहीं है दृश्य होने से, प्राणमय कोश आत्मा नहीं है दृश्य होने से, मनोमय कोश आत्मा नहीं है दृश्य होने से, विज्ञानमय कोश आत्मा नहीं है दृश्य होने से, आनन्द मय कोश भी आत्मा नहीं है मेरे दृश्य होने से किन्तु मैं किसी का दृश्य नहीं हूँ मेरा कोई द्रष्टा नहीं हैं इसलिए मैं सर्व का द्रष्टा हूँ ।

इन उपरोक्त पाचों कोशों के निषेध के उपरान्त जो सर्वान्तर प्रत्यगात्मा अवशेष रहता है, वह सत्य ज्ञान, अनन्त, लक्षणों वाला ब्रह्म ही है । इस प्रकार श्रुति ने उसे अन्तरात्मा होने से मैं रूप से अनन्य रूप से जानने योग्य बताया है । यह प्रपंच रस्सी में कल्पित सर्प की भाति ब्रह्म में भ्रान्तिवश आरोपित है । इसका निराकरण ही ब्रह्म की सिद्धि है ।

प्रश्न-२५२ : शब्द का अर्थ किस प्रकार जाना जाता है ?

उत्तर: किसी वाक्य के पदों के अर्थों का बोध होने पर ही वाक्यार्थ का बोध होता है । पद का अर्थ दो प्रकार का होता है । एक वाच्यार्थ(नकली अर्थ) दूसरा लक्ष्यार्थ(असली अर्थ) पद का जो अर्थ से सम्बन्ध है, उसे शब्द की वृत्ति कहते हैं । यह वृत्ति दो प्रकार की होती है एक शक्ति वृत्ति, दूसरी लक्षणावृत्ति ।

पद का अर्थ के साथ जो सीधा सम्बन्ध रहता है , उच्चारण मात्र से ही, बिना प्रयास के बोध हो जाता है, उसे शक्ति वृत्ति कहते हैं । जैसे घट कहते ही छोटा गोल गला, बड़ा पेट वाले जल पात्र का बोध हो जाता है । इसी प्रकार पानी, अग्नि, रोटी कहते ही उनका बोध तत्काल हो जाता है ।

परन्तु जहाँ पदों में शक्ति वृत्ति का अभाव है अर्थात् जहां उच्चारण करते ही शक्ति वृत्ति से मख्यार्थ गृहण न हो वहाँ लक्ष्णा की सहायता लेना पड़ती है ।

'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में 'तत्', 'त्वम्, 'असि' इन तीनों पदों से 'असि' तो 'है' का बोध कराता है तथा तत् और त्वम् माया-अविद्या के विरोधी चिदाभास अशं का त्याग करा के शेष रहे जीव साक्षी कूटस्थ आत्मा एवं ईश्वर साक्षी परमात्मा का अभेद सिद्ध करता है । तत् + त्वम् + असि अर्थात् 'वह तू है' प्रत्यगात्मा ही पूर्णानन्द ब्रह्म रूप से अवशेष

रहेगा । ब्रह्माण्ड और देह में स्थित परमात्मा तो सर्वदा से एक ही है, तादात्म्य होने से उस की अनुभूति प्रत्यक्ष हो जायेगी ।

इस प्रकार 'तत्' पद एवं 'त्वम्' पद के तादात्म्य का जब ज्ञान हो जायगा तब ही 'त्वम्' पद के अर्थ में से तत्काल जीव पना निवृत्त हो जायगा । और 'तत' पद के अर्थ में जो परोक्षता का भाव था वह दूर हो जायेगा । तब पूर्ण आनन्द स्वरूप से अपरोक्ष आत्म अनुभूति बनी रहती है । यह तादात्म्यता जीव ईश के विशेषणों का भाग त्याग लक्षणा द्वारा त्याग कर ईश्वर साक्षी परमात्मा व जीव साक्षी आत्मा में एकता बिना विरोध सिद्ध होती है ।

जैसे घट, मठ, उपाधि से आकाश की घटाकाश, मठाकाश ऐसी संज्ञा पुकारी जाती है । घट-मठ उपाधि छोड़ देने से आकाश तत्व एक ही सिद्ध हो जाता है । संज्ञाओं के भेद से वस्तु(सत्ता) में कोई भेद नहीं होता । इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का अर्थ किया जाता है । 'त्वम्' पद का अर्थ चैतन्य प्रत्यगात्मा, कुटस्थ साक्षी और तत् पद का अर्थ चैतन्य ब्रह्म यह दोनों पद एक ही एक ही ज्ञान को बताते हैं ।

प्रश्न-२५३ :'अहम्'(अस्मत्,मैं) का वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ(लक्षितार्थ) समझावें ।

उत्तर : अहम् अर्थात् 'मैं' कहने से जो ज्ञान, प्रतीति होती है और 'मैं' शब्द इन दोनों से जो-बोध ग्रहण किया जाता है । वह चिदात्मा यानी अल्पज्ञ, अल्पशक्ति-मान, परतन्त्र जीव त्वम् पद का वाच्य अर्थात् सीधा अर्थ है, उसका वाचक त्वम् पद है । त्वम् पद के दो अर्थ हैं । एक वाच्यार्थ और दूसरा लक्षितार्थ । यहां वाच्यार्थ बताया है । जीव भी अपने को 'अहं' 'अहं' मैं, मैं करके प्रकाशित करता है । 'मैं कर्ता भोक्ता हूँ, मैं डाक्टर, इन्जीनियर कलेक्टर, मास्टर, व्यापारी, लेखक, कवी, चित्रकार,

इत्यादि हूँ। असली मुख्यात्मा भी अन्त:करण में अहं, अहं, मैं, मैं करके समस्त संघात् का प्रकाशक साक्षी रूप से स्फूरित होता है। जीव नकली आत्मा है। अहं शब्द और उसकी प्रतीति का जो आलम्बन अन्त:करण विशिष्ट चैतन्य, गौणात्मा, जीव, त्वम् पद का वाच्यार्थ है। संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं-व्यष्टि अविद्या, अविद्या उपाधि में ब्रह्म का प्रतिविम्ब अर्थात् चिदाभास तथा इन दोनों का आधार शुद्ध ब्रह्म(अनुपहित) का एक प्रतीत होना त्वम् पद का वाच्यार्थ है।

प्रश्न-२५४ : ब्रह्म 'तत्' पद का वाच्यार्थ कैसे होता है ?

उत्तर : समष्टिमाया जिसकी उपाधि है जो जगत् का कारण है, जिसमें जगत् अध्यस्त है। सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमानता, स्वतन्त्रता, परोक्षता, अप्रत्यक्षता, मुक्तता, आनन्दता, फल, प्रदाता, अपरिच्छिन्नता आदि जिसके लक्षण बताये हैं 'यह' 'तत' पद का वाच्यार्थ ईश्वर कहलाता है यह परमात्मा का नकली रूप है।

अब सनातन सत्य स्वरूप के लक्षण बताते हैं जो असली, शुद्ध ब्रह्म है। सत्य, अविनाशित्व, ज्ञान, अनन्तता, आनन्द रूपता इस प्रकार जिसका स्वरूप है।

संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं कि समष्टि माया, माया में ब्रह्म का प्रतिविम्ब अर्थात् चिदाभास ईश्वर, इन दोनों का आधार अनुपहित शुद्ध ब्रह्म इन तीनों का तादात्म्य होकर तप्तलोहपिण्ड की भांति एकरूप प्रतीति होना 'तत' पद का वाच्यार्थ है।

प्रश्न -२५५: लक्षणावृत्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : वाच्यार्थ से जो ज्ञान हो और उसमें जो विरोध होता है उसे दूर कर संकेत द्वारा मुख्य अर्थ ग्रहण किया जाता है, उस वृत्ति को लक्षणा वृत्ति

कहते हैं ।

तत्त्वमसि का अर्थ 'परमात्मा तू है' । इस वाक्य में माया विशिष्ट सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, अप्रत्यक्ष, परोक्ष ईश्वर और प्रत्यक्ष, अपरोक्ष, अल्पशक्ति अल्पज्ञ अविद्या विशिष्ट जीव है । यह अर्थ असंगत है । क्योंकि सर्वज्ञ-अल्पज्ञ, प्रत्यक्ष-परोक्ष एक ही वस्तु में विरोधी धर्म है । इसमें अर्थ स्पष्ट नहीं होता है ।

अब मुख्यतः जीव ब्रह्म एकत्व निश्चय जिस वृत्ति के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है उसे लक्षणा वृत्ति(भाग लक्षणा) कहते हैं ।

शब्द शक्ति से जब मुख्यार्थ की प्रतीति, ज्ञान न हो तब पद की जिस शक्ति से मुख्यार्थ प्रकट हो उसे लक्षणा कहते है ।

प्रश्न -२५६: भाग त्याग लक्षणा से महावाक्य शोधन अर्थात जीव ब्रह्म एकत्व किस प्रकार होता है ?

उत्तर : महावाक्य में वाच्यार्थ में विरुद्ध अंश का परित्याग करके समान अंश में एकता की जाती है जैसे यह वही गांधी है, यह वही मीरा है । जिसको मैंने इंगलेंड़ में वारिस्टर पढ़ते समय देखाथा वही अब यहाँ भारत में स्वतन्त्रता के लिये अंग्रेजों के खिलाफ अभियान चला रहे हैं, अथवा यह वही मीरा अभी आश्रम में भजन कर रहीं है जो दसवर्ष पहले मेवाड़ में राजा भोज की पत्नी(रानी) थी । इन वाक्यों में देश व काल का परित्याग करके गांधी व मीरा में एकता होती है ।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदों में वाच्य माया और अविद्या उपाधि में विरोध है किन्तु जीव और ईश्वर के चैतन्य तत्त्व समान है । अत: ईश्वर व जीव इन दोनों के विरोधी अंश माया व अविद्या का परित्याग करके चैतन्य अंश में भागत्याग लक्षणा से

एकता हो जाती है । ईश्वर में चैतन्य भाग ब्रह्म कहलाता है और जीव में चैतन्य भाग कूटस्थ साक्षी प्रत्यगात्मा कहलाता है । अत: इन दोनों की एकता भागत्याग लक्षणा से सिद्ध होती है । अर्थात् ब्रह्म कूटस्थ आत्मा है वह कूटस्थ आत्मा ब्रह्म तू है । तत्त्वमसि का यह लक्षित अर्थ है ।

'अहंब्रह्मास्मि' इस महावाक्य के अर्थ का जब तक दृढ़ बोध न हो, तब तक साधक को साधन चतुष्ट शम, दम, श्रद्धा, तितिक्षा सहित वेदान्त ज्ञान के साधन श्रवण, मननादि का अभ्यास करते रहना चाहिये ।

प्रश्न -२५७: कृतोपास्ति किसे कहते है ?

उत्तर : जो साधक इष्ट की उपासना करके तथा उसका साक्षात्कार करके ज्ञान मार्ग में आते हैं उन्हें कृतोपास्ति कहते हैं । ऐसे साधकों को जब आत्म साक्षात्कार होता है, तो, उन्हें विदेह मुक्ति और जीवन्मुक्ति दोनों एककाल में ही प्राप्त हो जाती है ।

प्रश्न -२५८ : अकृतोपास्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो साधक उत्सुकता से ब्रह्मविद्या में प्रवेश हो गये और सद्गुरु के द्वारा वेदान्त तत्त्व का श्रवण, मनन, निदिध्यासन कर अपने द्रष्टा, साक्षी, आत्मा का ब्रह्म के साथ एकत्व बोध करते हैं उन्हें अकृतोपास्ति कहते हैं । उन्हें केवल प्रारब्ध भोग समाप्ति पर देह नाश के बाद विदेह मुक्ति ही प्राप्त होती है किन्तु जीवन्मुक्ति प्राप्त नहीं होती है । क्योंकि ज्ञान मार्ग में आने से पूर्व उन्होंने इष्ट उपासना करके इष्ट साक्षात्कार द्वारा वासना क्षय एवं मनोनाश नहीं किया है वे संसारी लोगों की तरह भोगासक्त बने रहते हैं इस कारण उन्हें जीवन काल में मनोनाश वासना क्षय के फल स्वरूप जो आनन्द मिलता है वह नहीं मिल पाता है इसलिए वे जीव जीवनमुक्ति के विलक्षण आनन्द से वंचित् रह जाते किन्तु उनकी विदेह मुक्ति हो जाती है ।

आत्मा साक्षात्कार होने पर जीवन्मुक्ति प्राप्ति के लिये अकृतोपास्ति साधक को मनोनाश एवं वासना क्षय के लिये पुरुषार्थ करना पड़ेगा। बिना, कर्म, उपासना के अकृतोपास्ति का मनोनाश नहीं होता है। जीवन्मुक्त ज्ञानी के मन का नाश हो जाता है।

कृतोपास्ति के वासना क्षय और मनो नाश तत्कालिक होते हैं। आत्मसाक्षात्कार होने पर मन भुने चने जैसा निर्बीज हो जाता है। भूना हुआ चना, बिना भुने हुए चने जैसा ही दिखाई पड़ता है पर वह भूना हुआ चना अकुंर धारण नहीं कर सकता। ऐसे ही ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए मन से अहंकार के अभाव में बन्धनकारी कर्म सम्भव नहीं होते। तत्त्वज्ञ के स्वतन्त्र कर्म नहीं होते हैं। जैसा प्रारब्ध कर्म उनके शरीरों को चलायेगा वैसा ही कर्म उनके शरीर द्वारा होता प्रतीत होगा। ज्ञानवान के शरीर प्रारब्ध समर्पित होते हैं।

ज्ञान की चोथी भूमिका में आत्मासाक्षात्कार होता है। आत्मसाक्षात्कार होते ही पुनर्जन्म का भय समाप्त हो जाता है। चौथी भूमिका से मुक्ति व विदेह मुक्ति है अर्थात् उसे फिर जन्म लेना नहीं पड़ेगा। पांचवी, छठी तथा सातवी भूमिका जीवन्मुक्ति की अवस्था है जो कृतोपास्ति को प्राप्त होती है। यही अन्तर विदेह मुक्ति होने एवं जीवन्मुक्ति होने का है।

प्रश्न -२५९ :-जीवन्मुक्त ज्ञानी के क्या लक्षण होते हैं ?

उत्तर: जीवन मुक्त ज्ञानी समाधि में स्थित रहने के समय उसका मन आत्मा में ही समाहित रहता है। उसका मन घट में रखे दीपक ज्योति की तरह निश्चय अपने स्वरूप में मग्न रहता है। बाह्य विषयों में सुख की लालसा को त्याग कर आत्मानन्द में ही सन्तुष्ट रहता है। उसकी मनोवृत्ति अनित्य विषयों को ग्रहण करने के लिये बाहर नहीं जाती है और ब्रह्माकार हुई

आत्मा को ही विषय करती है । घट में रखे दीपक का प्रकाश जैसे घट में ही रहता है बाहर नहीं जाता है वैसे ही उस जीवन्मुक्त ज्ञानी का मन अमन होने से सर्व उपद्रव रहित हो निर्विकल्प समाधि में प्रविष्ट हो अमृत, अक्षय, आनन्द का उपभोग करता है । उस ज्ञानी के आचरण के प्रति गीता श्रुति कहती है-

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्म तृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते '' ३/१७

उस आत्मा में ही रमण करने वाले जीवन्मुक्त पुरुष का बाह्य विषयों में सुख बुद्धि नहीं रहती है । वह केवल निजात्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है । वह वेद विधान से परे होता है उसके जीवन के लिये किसी प्रकार विधि निषेध नहीं होता है । उसका जीवन वृक्ष के सूखे पत्ते की तरह रहता है । सूखा पत्ता पवन वेग से अग्नि पर पड़े, गंगा में बहे या मन्दिर में जा पड़े या पैरों से कुचला जावे, कोई निश्चित नियम व्यवस्था नहीं रहती । इसी तरह इस जीवन्मुक्त ज्ञानी का जीवन समाधि से उत्थान अवस्था में रहता है ।

प्रश्न -२६०: जीवन्मुक्त ज्ञानी का जीवन समाधि से उत्थान अवस्था में कैसा रहता है ।

उत्तर : देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के कर्म अज्ञानियों के समान होते हुए भी जीवन्मुक्त उन देह उपाधियों के धर्मों में लिपायमान नहीं होता । जन्म-मरण शरीर के धर्मों, को, भूख-प्यास प्राण के धर्मों को, सुख-दुःख, चंचल-शांत बन्ध-मोक्ष, काम, क्रोधादि मन के धर्मों को अपने आत्मा में नहीं मानता है । वह अपने को समस्त देह संधात् के धर्मों का साक्षी जानता है । साक्ष्य के धर्म साक्षी में प्रवेश नहीं करते ।

'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म फले स्पृहा' -गीता ४/१४

मुझ आत्मा में अहंकार का अभाव होने के कारण वे कर्म पुन: जन्म एवं फल भोग दिलाने के हेतु नहीं होते है । वे कर्म निर्बीज हो जाते हैं । उन कर्मों में मेरी तृष्णा भी नहीं है ।

जैसे आकाश वायु का आश्रय होते हुए भी वायु के सुगन्ध, दुर्गन्ध, धूल, वायु के धूमिल वर्ण से लिपायमान नहीं होता, उसी प्रकार सर्व को जानने वाला, कलावान होते हुए भी अज्ञानी मूढ़ की तरह चेष्टा रहित रहता है ।

वायु की अपनी किसी भी गति में आसक्ति नहीं होती, न उसके स्पन्दन में नियम है । वह कभी तेज, कभी मन्द कभी शान्त रूप होती है । कभी ऊपर, कभी नीचे , कभी दायें कभी बायें बहती है । उसके बहने का कोई नियम नहीं कोई प्रतिबन्ध उसके जविन पर नहीं है ।

इसी प्रकार जीवन्मुक्त महापुरुष के आचरण पर कोई नियम नहीं है । उसका शरीर प्रारब्ध कर्म के अनुसार वृक्ष के सूखे पत्ते की तरह विचरण करता है । राजा जनक राज्य करते थे, महर्षि वशिष्ठ पुरोहित कर्म करते थे ।

समाधि से उठने पर कभी वस्त्र हीन होकर, कभी वस्त्र युक्त हो कर, कभी वल्कल अथवा मृग चर्मादि लपेटे हुए अथवा ज्ञान परिधान धारण किये हुए ब्रह्मवेत्ता उन्मत्त के समान अथवा बालक के समान अथवा पिशाच के समान स्वेच्छा से भूमण्डल पर विचरण करता है ।

वह जीवन्मुक्त देखता, सुनता, स्पर्श करता, स्वाद लेता, सूंघता, भोजन करता, बोलता, खाँसता, मल-मूत्र त्यागता, सोता- जागता, चलता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने स्वभाव में बरत रही है, मैं कुछ नहीं

करता हूँ ऐसा निःसन्देह मानता है। वह ज्ञानी तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है। और अपने को तीनों गुणों से परे साक्षी सच्चिदानन्द ब्रह्म रूप से जानता है।

तात्पर्य यह है कि ब्रह्मानन्द की अनुभूति सब ज्ञानियों की समान है, अन्तर केवल अन्तर्मुखी वृत्ति के काल का है। जितने समय जो ज्ञानी निर्विकल्प समाधि में रहता है उतनी अधिकता या कमी उसके आनन्द की रहती है। परन्तु बहिर मुख होने के समय भी वे भीतर से आनन्द रूप ही रहते हैं। बाहर से वे इस नाम रूप जगत् को ब्रह्मरूप देखते हैं तब भी वे आनन्द स्वरूप का ही अनुभव करते हैं। परन्तु आनन्द की मुख्यता निर्विकल्प समाधि में ही है।

'योवैभूमातत्सुखम्, नाल्पम् सुखमस्ति'

प्रश्न -२६१: ब्रह्मानन्द एवं विषयानन्द में क्या भेद है ?

उत्तर:-ब्रह्मानन्द विभू है एवं विषयानन्द क्षणिक है। ब्रह्मानन्द सब सुखों का स्त्रोत्र है। इन्द्रिय सुख, विषय सुख ब्रह्मानन्द की छाया मात्र है। ब्रह्मानन्द निरालम्ब होता है। विषयानन्द इन्द्रियों एवं विषय के संयोग से उत्पन्न होता है। सुख थकाने वाला होता है। आनन्द शान्तिप्रद होता है सुख शब्द दुःख का सापेक्षिक शब्द है। आनन्द, सुख व दुःख दोनों से रहित अनिर्वचनीय शान्तानुभूति होती है। सुख जगत् का शब्द है आनन्द ब्रह्म का पर्यायवाचक शब्द है। **'रसो वै सः'** ब्रह्म आनन्द घन है।

प्रश्न-२६२: जगत् ब्रह्म रूप कैसे है ?

उत्तर : प्रपंच का अधिष्ठान ब्रह्म(आत्मा) है। जैसे मन्द अन्धकार में रस्सी अधिष्ठान में सर्प की प्रतीति होती है, वह सर्प रस्सी रूप ही है, रस्सी से भिन्न नहीं है। अधिष्ठान वस्तु से अध्यस्त भ्रम की प्रतीति अभिन्न होने

के कारण वह अध्यस्त वस्तु अधिष्ठान रूप ही है ।

अर्थात् 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' मुण्डक २/२/९९ अर्थात् समस्त दृश्यमान जगत् प्रत्यक्ष श्रेष्ठ ब्रह्म ही है । 'आत्मा एव इदम सर्वम् जगत्' सर्वं खल्विदं ब्रह्म', पुरुष एव इदम् सर्वम्' पण्डिता: समदर्शिन:, 'आत्मान: अन्यत् न विद्यते' यह सब दृश्यमान जगत् आत्मा ही है, यह सब जगत् पुरुष आत्मा ही है , यह सब निश्चय ही ब्रह्म है । आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है 'नासतो विद्यतेभाव': -गीता २/१६ असत वस्तु की सत्ता नहीं होती । यह चेतन आत्मा ही नाम रूप जगत् होकर भासता है, और नाम, रूप आत्मा में उसी प्रकार कल्पित है जैसे स्वर्ण में अलंकार । स्वर्ण में कल्पित अलंकार स्र्वणसे भिन्न नहीं है ।

इसी प्रकार समस्त नाम, रूप आत्मा में अध्यस्त होने से आत्मा ही है । अज्ञान से ब्रह्म में नाना नाम, रूप भेद है । ज्ञान होजाने पर नाम, रूप का मिथ्यात्व बोध होने पर एक आत्मा है ।

आत्मज्ञानी को जगत् के नाम रूप आभास मात्र दिखाई पड़ते हैं जैसे दर्पण के अन्तर्गत दिखाई पड़ने वाले नगर, पर्वत, सूर्य, चन्द्र, पशु, पक्षी, मनुष्य सभी दृश्य असत आभास मात्र होते हैं । इसी तरह ज्ञानी समस्त जगत् को अज्ञान दर्पण में आभास मात्र देखता है । अत: वह नाम, रूप को असत् मानते हुए उनसे ब्रह्म दर्शन ही करता है ।

स्थूल दृष्टि से तो नाम, रूप भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ते हैं, किन्तु ज्ञान नेत्र से, विचार नेत्र से, लय चिन्तनसे अथवा कार्य को कारण रूप देखने से वह प्रकट प्रत्यक्ष, नाम, रूप नहीं दिखाई देते हैं बल्कि ब्रह्म ही दिखाई पड़ता है । इसी का नाम यथार्थ दर्शन है । इस प्रकार यह समस्त जगत् आत्मा ही है, आत्मा से भिन्न कोई जगत् नाम की वस्तु नहीं है । जैसे मिट्टी से भिन्न घट, मठ, दीपक, ईंट सुराही, गणेशमूर्ति, दुर्गामूर्ति सरस्वती

मूर्ति विश्वकर्मी मूर्ति नहीं है बल्कि सर्व नाम, रूप एक मिट्टी ही है । इसी प्रकार यह समस्त दृश्य मान जगत् एकमात्र आत्मा ही है ।

यह दृश्य है तू द्रष्टा है यह भेद ज्ञान तो ब्रह्म विद्या के जिज्ञासु के लिये प्रथम प्रक्रिया मात्र है, पहला पाठ है, यह द्रष्टा दृश्य भेदज्ञान अन्तिम नहीं है । वास्तव में ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं है । वेदान्त शास्त्र का प्रयोजन एक ब्रह्म समझाना है ।

वास्तव में ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है । ब्रह्म और जगत् का भेद समझाने मात्र के लिए है, भेद ज्ञान से अभेद ज्ञान सुगमता से अवगत होता है अत: सद्गुरु जिज्ञासु को सर्व प्रथम भेद बतातें हैं किन्तु अन्त में उसे अभेद ही निश्चय कराते है जो सत्य है । द्वैत को तो भय रूप बताया गया है

'द्वितीया द्वै भयं भवति'

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति - कठोप

जो भी एक ब्रह्मसत्ता में थोड़ा भी भेद देखता है वह बारम्बार मृत्यु को प्राप्त होता हुआ दु:ख से महा दुखों को भोगता रहेगा । '**नेह नानास्ति किंचन**' यहां ब्रह्म के अतिरिक्त किंचित् भी अन्य नहीं है ।

जैसे घट नाम से मिट्टी, पट नाम से रूई, अलंकार नाम से स्वर्ण, शरीर नाम से पंच भूत ही होते हैं । इसी प्रकार जगत् नाम से चैतन्यात्मा ही है । प्रसिद्ध नाम, रूप को वस्तु से बाध कर देने से जो शेष रहता है वह अधिष्ठान ही सत्य वस्तु है । इस प्रकार अध्यस्त जगत के नाम, रूप का बुद्धि से बाधकर देने से अवशिष्ट में एक अधिष्ठान ब्रह्म ही जानना चाहिये ।

प्रश्न-२६३: जो देखा, सुना जाता है वह माया है या ब्रह्म है ?

उत्तर : तत्त्वज्ञान हो जाने पर जो जो देखा जाता है, जो जो सुना जाता है

वह सब ब्रह्म से भिन्न नहीं होता वह सब अद्वय, सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है, किन्तु ब्रह्मज्ञान से पहले वह सब दृश्यमान जगत् मिथ्या, माया मात्र ही जानना चाहिये ।

सुनना, देखना, सूंघना, स्वाद, लेना, र्स्पश करना वे सब तन्मात्रा ब्रह्म से भिन्न नहीं है । न ब्रह्म से भिन्न कोई श्रोता है, न कोई द्रष्टा है, न कोई मन्ता है न कोई ज्ञाता है ।

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति,
नान्यद्विजानाति स भूमा' इति श्रुतिः'

-- छान्दोग्यउप. ७/२४/१

जिससे भिन्न न कोई दूसरा देखने वाला है न सुनने वाला है और न जानने वाला है, उसे भूमा कहते हैं, उसे ब्रह्म कहते हैं । नेति-नेति श्रुति वाक्य से अनात्म असत् वस्तु का निराकरण के उपरान्त जो शेष वस्तु रहे वह ब्रह्म है । तो फिर अनात्म वस्तु क्या है ? आत्मा रूप अधिष्ठान में अध्यस्त होकर प्रतीत होता है वह सब अनात्म असत जगत् वस्तु है । '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' यह सब निश्चय ही ब्रह्म है, सब वस्तु में ब्रह्म युक्त है । सब वस्तु उस में अध्यस्त है । सब व्यवहार उसकी शक्ति से होते हैं । नेत्र देखते हैं, कान सुनते हैं, वाणी बोलती है, मन सोचता है, बुद्धि निश्चय करती है । जठराग्नि भोजन पचाती है, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, वायु अपना-अपना कार्य करते है । इत्यादि सब व्यवहारों में ब्रह्म व्याप्त है अतः वह ब्रह्म सर्वगत है ।

जैसे भूमिसे निकाला गया स्वर्ण को जब तपाया जाता है तब उसका मैल नष्ट होकर वह कान्ति मान होता है वैसे जीव भी ईश्वर का सनातन अंश है किन्तु अविद्या की उपाधि से मोहित हुआ वह अपने को जीव समझता है । जब ज्ञानाग्नि से उपाधियां एवं अध्यास नष्ट हो जाता है

तब उसका वास्तविक स्वरूप स्वयं प्रकाश आत्मा ही शेष रहता है ।

ममैवांशो जीव लोके जीव भूत: सनातन -गीता १५/७

यह अंशांशी भाव भी समझाने हेतु कहा गया है अन्यथा ब्रह्म अद्वय, अखण्ड सत्ता है । ब्रह्म बाह्माभ्यान्तर से रहित है । जैसी मिश्री में भीतर बाहर नहीं है मिठासघन है इसी तरह ब्रह्म सर्वव्यापी है अणु-अणुमें वह व्याप्त है वह अनन्त एवं निरवयव है कोई भी देश, काल, वस्तु उसकी व्यापकता से रहित नहीं है । वह अखिल विश्व में व्याप्त है । बल्कि सर्व नाम, रूप एवं कर्म को भी धारण करता है, सर्वाधिष्ठान होने से । तीनों को ब्रह्म धारण करता है ।

'**तस्यभासा सर्वमिदं विभाति**' - कठोप २/२/१५ उस इस आत्मा के प्रकाश में सब जगत् प्रकाशमान होता है । वस्तु, नेत्र, प्रकाश, मन , बुद्धि इन सबका आत्मा प्रकाशक होने से स्वयं प्रकाश है । आत्मा का प्रकाश यदि मनको न मिले तो देह संघात् जड़ हो जाने से किसी प्रकार की क्रिया अथवा भोग नहीं कर सकेंगे । अत: यह विश्व मुझ एक आत्मा के प्रकाश से ही प्रकाशित हो रहा है किन्तु मुझ स्वयंप्रकाश आत्मा का कोई प्रकाशक नहीं है ।

न तद्भासयदे सूर्यो न शशांको न पावक: ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

- गीता१५/६

न तत्र सूर्वोभाति न चन्द्र तारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमाग्नि:
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्
तस्यभासा सर्वमिदं विभाति

-श्वेता.उप. ६/१४

प्रश्न-२६४ : जब तीर्थ राज प्रयाग में स्नान द्वारा मोक्ष हो जाता है या कशी में मरने से मोक्ष हो जाता है तब ज्ञान प्राप्ति की क्या आवश्यकता ?

उतर: मूढ़जन विवेक हीन होने से सत्य-असत्य जड़-चेतन, द्रष्टा-दृश्य, स्वयं प्रकाश-पर प्रकाश, शव-शिव, का भेद न जानने के कारण काशी, हरि द्वार, प्रयाग राजादि जल, पाषाण रूप स्थानो को तीर्थ मानकर वहां के दर्शन, स्नान करने को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं । उनको मुक्ति की प्राप्ति कभी नहीं हो सकेगी, क्योंकि मुक्ति ज्ञान का फल वेद में बताया है । **'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति', 'ज्ञान मोक्ष प्रदवेद बताया'** ।

प्रयागराजादितीर्थ एक स्थानीय होने से सर्व मानवो के लिये सुगम नहीं । फिर वहां स्नान के विशेष दिन है, तभी स्नान का मन कल्पित फल मिलता है अन्य दिनों में नहीं । बाह्य तीर्थ में स्नान से शारीरिक कष्ट, आर्थिक धन हानि, समय एवं स्वास्थ्य नष्ट होता है । वर्षाकाल में जल अशुद्ध मलिन रहता है उस में रोगी के स्नान द्वारा अन्य को भी रोग फैल जाने का भय बना रहता है । तेज जल प्रवाह में बह जाने या मगर द्वारा खाजाने का भय भी रहता है । पण्डा लोग परेशान भी करते हैं । चोर वस्तु, धन चुरालेजाने का भय भी रहता है । वहां शीतकाल में जल स्नान बहुत कष्ट प्रद होता है

किन्तु आत्मतीर्थ सभी जीवों के लिये सुगम है अर्थात् हमारे तुम्हारे सभी के पास सब समय है । उसके लिये बाहर किसी तीर्थ मन्दिर, नदी, पर्वत, जंगल में जाने की जरूरत नहीं है । आत्मतीर्थ में स्नान सदा आनन्द दायक है जो मुक्ति का साक्षात् हेतु है । अपना आत्मा ही महातीर्थ है, उसका जो सेवन करता है अर्थात् निर्विकल्प समाधि में जो उसमें

अवगाहन स्नान, आत्म दर्शन करता है वह जीवन्मुक्त है। वह आत्मा न केवल शोक, मोह को नष्ट करने वाला है, बल्कि वह नित्यानन्द स्वरूप है अर्थात् कभी सुख कभी दु:ख रूप होता है ऐसा नहीं है।

प्रश्न-२६५: अखण्ड ब्रह्म में जीवभाव कैसे उदय हो जाता है ?

उत्तर : जैसे मन्द अन्धकार में सूखे वृक्ष में, ठूंठ पुरुष या चौर की तरह प्रतीत होता है, वैसे ही अविद्या के कारण अखण्ड नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, आनन्द ब्रह्म में जीव भाव का कल्पना की गई है। प्रकाश होने पर चौर भ्रम या पुरुषभ्रम उस सूखे कटे वृक्ष को देख दूर हो जाता है इसी तरह अधिष्ठान आत्मा का बोध हो जाने पर जीवभाव निवृत्त हो जाता है। पंच कोश के निरोध करने पर जो शेष रहता है। वही पंचकोशों का अधिष्ठान जीव का वास्तविक रूप है जीव के अधिष्ठान आत्मा का साक्षात् अनुभव होने पर कि 'वह आत्मा मैं' हूँ तब उसके जीव भाव की निवृत्ति होती है।

अधिष्ठान का ज्ञान होने पर उसमें कल्पित अध्यस्त वस्तु का नाश अपने आप हो जाता है। जैसे अधिष्ठान रस्सी का ज्ञान होते ही उस में अध्यस्त सर्प की निवृत्ति तत्काल हो जाती है। अधिष्ठान का ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। अध्यस्त पदार्थ को सत्य मानना ही अज्ञान है।

प्रश्न-२६६:-श्रुतज्ञान एवं साक्षात् ज्ञान में क्या भेद है ?

उत्तर:-श्रुतज्ञान का अर्थ सुनकर मानलेना जिसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं। साक्षात् ज्ञान का अर्थ है जान कर मानना जिसे अपरोक्ष या प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। जैसे बच्चों को हाथी के विषय में पाठ पढ़ाया गया किन्तु हाथी देखा नहीं। जब जंगल में बालक भैंसा को देखलेंगे तो उसमें उन्हें हाथी का भ्रम बोध हो सकता है परन्तु विद्यार्थियों ने चिड़िया घर में हाथी देख लिया हो, तो पुन: उसके पहचानने में भ्रान्ति नहीं हो सकती। श्रुतज्ञान से

साक्षात् ज्ञान अधिक बलवान होता है ।

ब्रह्म विद्या के श्रवण, मनन से जो ब्रह्म का ज्ञान होता है उससे मुमुक्षु का अज्ञान समूल से नष्ट नहीं होता है सन्देह की सम्भावना रहती है । परन्तु जब ब्रह्म का साक्षात् अनुभव हो जाता है तब देहात्मबुद्धि तथा देह सम्बन्धित वस्तु एवं व्यक्तियों के प्रति ममता समाप्त हो जाता है । इस आत्मा का साक्षात् अनुभव होते ही अज्ञान से उत्पन्न अहंता-ममता का भी नाश तत्काल हो जाता है ।

प्रश्न -२६७: जब यहाँ एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्यकुछ नहीं है तब आत्मा की प्राप्ति कैसे कही जाती है ?

उत्तर: आत्मा सदा से प्राप्त सब का अपना स्वरूप, स्वभाव ही है । क्योंकि आत्मा अखण्ड होने से सब देश, काल, वस्तु को धारण करता है, पूरित करता है । कोई देश, काल, वस्तु उससे बाहर नहीं है वह अनन्त होने से सब स्थलों में व्याप्त है, अत: वह सबका निज स्वरूप होने से प्राप्त ही है । किन्तु अविद्या के कारण मूढ़ो को अप्राप्त-सा ही रहता है ।

'नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमाया समावृत':

- गीता : ७/२५

मैं अपनी नाम, रूप योगमाया से ढ़का हुआ होने के कारण सामान्यत: सब को प्राप्त होते हुए भी अज्ञान के कारण अनुभव रूप नहीं होता हूँ । जब सद्गुरु द्वारा आत्मा का ज्ञान होगा तब उस जीव का अज्ञान नष्ट हो जाने से उसे नित्य प्राप्त आत्मा प्राप्तसा अनुभव में आता है ।

जैसे किसी व्यक्ति ने नदी स्नान के समय हाथ की घड़ी जेब में रखली हो एवं स्नान के बाद कपड़े पहन कर चल दिया । रास्ते में किसी ने समय पूछा तब उसने अपने हाथ की कलाई को समय देखने हेतु उठाया तो

वहां घड़ी बन्धी न देख इधर-उधर खोजने, पुछने लगा । तब किसी ने कहा भाई ! अपने जेब में तो देख लो शायद तुमने स्नान के पहले रखदी हो । उस व्यक्ति ने जेब में हाथ ड़ाला तो उसे घड़ी प्राप्त-सी होगई, जो पहले से ही प्राप्त थी किन्तु भूल के कारण अप्राप्त-सी थी ।

पाया कहे सो बाबरा, खोया कहे सो क्रुर ।
पाया खोया कुछ नहीं, ज्यों का त्यों भरपूर ॥

प्रश्न -२६८: आत्मा को स्वयं सिद्ध क्यों कहा जाता है ?

उत्तर : मैं आत्मा स्वयं सिद्ध हूँ, मुझे सिद्ध करने के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है वेद, शास्त्र, पुराण, गीता आदि शास्त्र एवं सूर्य, चन्द्र, पवन मेरे प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं । भला अपने आपको जानने के लिये ब्रह्माकार वृत्ति(मैं ब्रह्म हूँ) के अलावा किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता हो सकती है ? मैं अपने स्वरूप से किसी देश, काल, में चलाय मान नहीं होता हूँ । अचल होने से एवं असंग होने से पुण्य-पाप से रहित निर्मल हूँ ।

प्रश्न -२६९: आत्मा आकाशवत् अविभाज्य कैसे है ?

उत्तर : मैं आत्मा आकाश की तरह सर्व हूँ । अखण्ड, व्यापक आकाश में घटाकाश, मठाकाश प्रतीत होने से भी यथार्थ में महाकाश ही है, केवल घट, मठ उपाधि भेद से ही आकाश में भिन्नता भासित होती है ।

इसी तरह एक अखण्ड आत्म ब्रह्म में अविद्या उपाधि के कारण नानाजीव की प्रतीति होती है । वास्तव में तो एक आत्मा ही अज्ञान के कारण जगत् रूप में भासित हो रहा है । मैं ही जगत् हूँ 'पुरुष एवेद सर्वम्' यह सब जगत् चैतन्यात्मा ही है । 'इदं सर्व यदयमात्मा' यह जो कुछ दृश्यमान है सब एक आत्मा ही है ।

'य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति सइदं सर्वं भवति'

-ब्रह.उप.१/४/१०

'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जो जानता है, वह सर्व रूप हो जाता है। मैं आत्मा ही भीतर अन्तःकरण का साक्षी रूपसे स्थित एवं भोग्य पदार्थ रूप से बाहर स्थित हूँ 'भोक्ता च भोग्य स्वयमेव सर्वम्' आत्मा स्वयं ही भोग्य पदार्थ और भोक्ता है।

प्रश्न-२७०: मोक्ष की प्राप्ति कर्म द्वारा क्यों नहीं हो सकती ?

उत्तर: कर्म, उपासना, योग, कुण्डलनी जाग्रत, यज्ञ, धन, पुत्रादि साधनों द्वारा आत्मज्ञान रूप मोक्ष नहीं होता। क्योंकि आत्म ज्ञान, जीव ब्रह्म की एकता की अनुभूति ही मोक्ष का एक मात्र, प्रत्यक्ष, तत्काल साधन है। जैसे भोजन पकाने में अग्नि प्रत्यक्ष कारण है। उसी तरह ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता।

ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म है। इस प्रकार का अनुभव पूर्ण निश्चय ज्ञान कहलाता है। **'ज्ञानादेव तु कैवल्य प्राप्यते'** ज्ञान से ही मोक्ष होता है। ज्ञानियों का अभिष्ट मोक्ष कैवल्य है।

'कैवल्यमुक्तिरेकैव पारमार्थिक रूपिणी' मुक्तिकोपनिषद: १८

परम अर्थ को सिद्ध करने वाली तो एक मात्र कैवल्य मुक्ति ही है। सालोक्य मोक्ष में उपासक को इष्ट का रूप प्राप्त सारूप्य मोक्ष में उपासक को इष्ट लोक इष्ट की समीपता प्राप्त होती है। तथा सायुज्य मोक्ष में उपासक अपने इष्ट के साथ मिलजाता है। यह चारो मोक्ष उपासना से प्राप्त होते हैं।

कर्म का अविद्या से विरोध नहीं है, इसलिये कर्म उसका निवारण नहीं कर सकता। ब्रह्मविद्या हो अविद्या का नाश करती है। कर्म अविद्या से उत्पन्न होता है, अविद्या उसका कारण है। कार्य और कारण में सर्वदा

अभेद होने से कार्य कारण का नाश नहीं कर सकता। जैसे मिट्टी का घड़ा मिट्टी का नाश नहीं कर सकता, क्योंकि उनमें विरोध नहीं है। कर्म भी अविद्या का कार्य होने से अविद्या कारण का नाश नहीं कर सकता। जैसे अग्नि जल का एवं जल अग्नि का नाश हेतु है इस तरह कर्म अविद्या का विरोधी न होने से वह अपने कारण अविद्या का नाश नहीं कर सकता। ब्रह्म विद्या ही अविद्या का नाश कर सकती है। क्योंकि इनमें विरोध है। जैसे प्रकाश अन्धकार का तत्काल नाश कर देता है इसी प्रकार ब्रह्मविद्या तत्काल जीव के देहाध्यास दोष का नाशकर ब्रह्मानुभूति करा देती है।

प्रश्न-२७१: सुखी-दु:खी, पापी-पुण्यात्मा, कौन होता है ?

उत्तर : -कर्ता-भोक्ता, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, चंचल-शान्त, ज्ञान-अज्ञान तथा बन्ध-मोक्ष यह धर्म अन्त:करण चिदाभास युक्तजीव के है आत्मा के नहीं है।

जैसे अग्नि के सानिध्य से लोह पिंड भी लाल एवं जलाने वाला हो जाता है इसी तरह आत्मा के सानिध्य से जड़ अन्त:करण भी चेतन-सा हो जाता है और वह अपना धर्म आत्मा पर आरोपित कर दिखाता है।

भ्रान्ति वश आत्मा बुद्धि के धर्मों का पारस्पारिक आदान प्रदान होने के कारण आत्मा बुद्धि के धर्मों को अपना धर्म मानने लगजाती है। जैसे लाल रंग के प्रकाश का मणि में अध्यास हो जाता है। इसी तरह आत्मा में बुद्धि के धर्मों का अध्यास हो जाता है। आत्मा की चेतन्ता बुद्धि में एवं बुद्धि के विकारों का अध्यास आत्मा में हो जाता है। जिसके फल स्वरूप बुद्धि अपने को आत्मा समझने लगती है और अपने को ज्ञाता, द्रष्टा मानने लगती है।

बुद्धि में चेतना एवं आत्मा में विकार तीन काल में नहीं है।

आत्मा में केवल सत्ता, ज्ञान एवं आनन्द है अर्थात् आत्मा सच्चिदानन्द रूप है । **'सत्य ज्ञानं अनन्त ब्रह्म इतिश्रुति** ।

प्रश्न -२७२ : मुख्य एवं गौण दो द्रष्टा कैसे बताये जाते हैं ?

उत्तर: देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि इस देह संघात् में दो द्रष्टा है । एक मुख्य द्रष्टा और दूसरा गौण द्रष्टा है । मुख्य द्रष्टा अपना आत्मा है एवं गौण द्रष्टा अन्त:करण विशिष्ट चेतन जीव कहलाता है यही गौण द्रष्टा है ।

आत्मा मुख्य द्रष्टा है क्योंकि

'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, नान्योऽतोऽस्ति श्रोता
नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता'

इति ब्रहदारण्यक श्रुति ३/१/२३

मुझ आत्मा से भिन्न न कोई द्रष्टा है न कोई श्रोता है, न कोई मन्ता अर्थात् मनन करने वाला है न कोई विज्ञाता अर्थात् जानने वाला है । यह मुख्य द्रष्टा 'अहम्. अहम्' करके स्फूरित होता रहता है । मुझ आत्मा की समीपता के कारण अन्त:करण भी आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है, जिसे अहंकार कहते हैं । यह अन्त:करण विशिष्ट चेतन जीव ही गौण द्रष्टा है । इस प्रकार शरीर संघात दो द्रष्टाओं के प्रकाश से प्रकाशित होता है । एक तो आत्मा तथा दूसरा अहंकार रूप जीव के द्वारा । यह गोण द्रष्टा भी अहम् अहम् करके स्फूरित होता है । यह गौण द्रष्टा अनात्मक है । जैसे मैं मनुष्य, ब्राह्मण, पण्डित, पुरोहित, साधु, ब्रह्मचारी गृहस्थी आदि मानता है ।

यह मुख्य द्रष्टा ही अन्त:करण उपाधि के धर्मों को अपने धर्म समझने से भ्रान्ति वश अपने को गौण द्रष्टा जानता है । बुद्धि के विकारों को आत्मा अपने ही गुण जानकर मैं जीव जन्म-मरण चक्र में भ्रमण करने

वाला, मैं जीव देखने वाला, मैं जीव जानने वाला, आत्मा हूँ। अर्थात् गौण द्रष्टा हूँ इस प्रकार मोहित - सा हो जाता है वास्तव में वह आत्मा शुद्ध अनुभव रूप एवं मन, वाणी का अविषय है 'राम अतर्क्य बुद्धि मन वाणी' का अविषय है। जड़ बुद्धि न जान सकती है, न देख सकती है किन्तु चेतन साक्षी आत्मा तथा बुद्धि लोह पिडं की भांति चेतन आत्मा और अचेतन बुद्धि में क्रमश: अजडत्व और जड़त्व धर्मों का भ्रान्ति वश एक दूसरे पर आरोपण होता है, वास्तव में नहीं।

जैसे रस्सी को सर्प मानकर जीव भयभीत होता है इसी प्रकार 'मैं जीव हूँ' इस प्रकार अपने को जीव जान कर भयभीत होता है। मैं परमात्मा हूँ, मैं जीव नहीं हूँ यदि इस प्रकार सद्गुरु कृपा से जान लेता है तो निर्भय हो जाता है।

आत्मा स्वयंप्रकाश होने से इन्द्रियां एवं जड़ बुद्धि उसे प्रकाशित नहीं कर सकती अर्थात् नहीं जान सकती। स्वयं जो जड़ है वह अन्य को कैसे जानेंगे ? कभी नहीं जान सकेंगे।

'यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'

- ब्रह्मानन्द बल्ली २/४ तैत्तिरीय .उप

जहां से वाणी और मन ब्रह्म को विना जाने लौट आते हैं। आत्मा स्वयं बोध रूप होने से अपने जानने में दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। जैसे दीपक के अपने प्रकाशन में दूसरे दीपक के प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती है।

दीपक ज्योति को प्रकाशित करने हेतु अन्य दीपक ज्योति की जरूरत नहीं रहती। आत्मा इसी प्रकार स्वयं प्रकाशक है।

दीपक ज्योति घट पटादि बाह्य पदार्थों को प्रकाशित करती है

किन्तु घट पट आदि पदार्थ दीपक ज्योति को प्रकाशित नहीं कर सकते । इसी प्रकार आत्मा द्वारा इदम् दृश्य जगत् एवं देह संघात प्रकाशित होता है किन्तु समस्त संसार एवं देह संघात जड़ होने से मुझ चैतन्यात्मा को प्रकाशित नहीं कर सकते ।

प्रश्न -२७१ : गर्भ गीता का सारांस क्या है ?

सारांस: न मोक्षं भ्रमते तीर्थं न मोक्षं भस्म लेपनम्
न मोक्षं ब्रह्मचर्य हि मोक्षं न इन्द्रिय निग्रह
न मोक्षं कोटि यज्ञ च न मोक्षं दान कांञनम्
न मोक्षं धर्म कर्मेशु न मोक्षं मूर्ति भावेन
न मोक्षं वन वासेन न मोक्षं भोजन विना
न मोक्षं मंद मौने न च मोक्षं देह ताड़नम्
न मोक्षं गायते गीतां न मोक्षं शिश्न निग्रहम्
न मोक्षं सुजटा भारमं, ननिर्जन सेवन स्तथा
न मोक्षं कन्द भक्षणं न मोक्षं सर्व रोधनम
नाना शास्त्र पठेत लोका: नाना देवत पूजनम्
आत्मज्ञानं बिना पार्थ सर्व कर्म निरर्थकम्

- गर्भ गीता

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।